

संघशक्ति

4 दिसम्बर, 2017

वर्ष : 54

अंक-12

- : सम्पादक :-

लक्ष्मणसिंह बेण्टांकावास

शुल्क - एक प्रति : 15 / रुपये, वार्षिक : 150 रुपये, पंचवर्षीय : 700/- रुपये, दस वर्षीय : 1300/- रुपये

विषय - सूची

○ समाचार संक्षेप	₹	04
○ चलता रहे मेरा संघ	₹ श्री भगवानसिंह रोलसाहबसर	05
○ पूज्य श्री तनसिंहजी (के सम्बन्ध में)	₹ श्री चैनसिंह बैठवास	07
○ क्षत्रियत्व की प्रतिमूर्ति : दुर्गादास राठौड़	₹ श्री रेवंतसिंह पाटोदा	09
○ भगवन्नाम की महिमा	₹ स्वामी श्री यतीश्वरानन्द	11
○ पूज्य श्री तनसिंहजी (के सम्बन्ध में)	₹ श्री कृपाकांक्षी	14
○ दस्तावेज	₹ स्वामी श्री सच्चिदानन्द	15
○ विचार-सरिता (षष्ठविंश लहरी)	₹ श्री विचारक	19
○ गुजरात में सोलंकी कुल का शासन	₹ श्री गिरधारीसिंह डोभाड़ा	21
○ जीवन का अमृत-सदाचार	₹ श्री कमला शंकरसिंह	24
○ संयोग, वियोग और योग	₹ स्वामी श्री रामसुखदासजी	27
○ भक्त शिरोमणि मीरा बाई	₹ श्री ब्रजराजसिंह राजावत खरेड़ा	30
○ अपनी बात	₹	32

समाचार संक्षेप

फिल्म का विरोध :

फिल्म पद्मावती का चारों ओर से विरोध होने का कारण है कि एक उज्ज्वल चरित्र जो कि नारी के स्वाभिमान का गौरवमय आदर्श है, को फिल्म में गलत रूप से प्रस्तुत किया गया है। महारानी पद्मिनी भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल सितारा है। अपनी आन-बान व सतीत्व की रक्षा हेतु सौलह हजार वीरगानाओं का नेतृत्व कर महारानी पद्मिनी ने जौहर किया। विश्व इतिहास में जौहर के उदाहरण भारत के अलावा कहीं नहीं हैं। क्षत्रियों के साथ समाज के अन्य यौद्धाओं की पत्नियाँ भी जौहर में सम्मिलित थीं। पद्मिनीका जौहर केवल राजपूत समाज के गौरवमय इतिहास की घटना ही नहीं है, पूरे भारतीय समाज के गौरव का विपर्य है। इसीलिए सर्वसमाज की ओर से व्यापक विरोध का होना स्वाभाविक है। पद्मिनी जैसे चरित्र से प्रेरणा लेकर भारतीय महिलाएँ अपने चरित्र को निखारती हैं। ऐसे उज्ज्वल चरित्र को गलत रूप में प्रदर्शित किया जाए तो महिलाएँ कैसे सहन कर सकती हैं। इतिहास के पात्रों पर फिल्म बने तो ऐतिहासिक तथ्यों के साथ तोड़-मरोड़ कभी नहीं होनी चाहिए और उन ऐतिहासिक पुरुषों का जीवन चरित्र यथारूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए ताकि हमारी भावी पीढ़ी उनसे प्रेरणा ले सके।

जयपुर में इस फिल्म की शूटिंग के समय हुए विरोध के बाद फिल्म निर्माता की ओर से आए प्रतिनिधियों के साथ तय हुआ था कि फिल्म बन जाने के बाद पहले एक कमेटी को फिल्म दिखाई जाए, जिस कमेटी में हाईकोर्ट के सेवानिवृत्त न्यायाधीश की अध्यक्षता में इतिहास के कुछ विद्वान और समाज के कुछ प्रतिनिधि रहेंगे। यह कमेटी जब प्रमाणित कर दे कि न तो इतिहास के साथ कोई छेड़छाड़ हुई है और न ही किसी उज्ज्वल चरित्र को गलत रूप में दिखाया गया है, तभी फिल्म रिलीज की जाएगी। लेकिन ऐसा नहीं किया गया। इस बीच जो दृश्य ट्रेलर में सामने आया कि महारानी पद्मिनी दरबार में नाच रही है, वह स्पष्ट रूप से हमारी उज्ज्वल

संस्कृति पर प्रहर है। तब संदेह होता है कि फिल्म में अन्य विकृतियाँ भी हो सकती हैं। इसलिए विरोध तो होगा ही। सरकार को यह निश्चित करना चाहिए कि केवल इस फिल्म में ही नहीं, किसी भी ऐतिहासिक फिल्म में तथ्यों की तोड़-मरोड़ न हो सके।

पद्मिनी कहाँ की थी, इस विपर्य में कुछ इतिहासकारों ने भ्रांति फैला रखी है। श्री हरिसिंह भाटी ने अपने ‘पूगल का इतिहास’ में इसे स्पष्ट किया है, जो निम्न प्रकार है-

पद्मिनी जैसलमेर के राजकुमार पुन्यपाल की पुत्री थी, जिन्हें पून्यपाल नाम से ज्यादा जाना जाता है। पद्मिनी का जन्म सन् 1285 में हुआ था। पून्यपाल सन् 1288 में जैसलमेर के रावल बने। सन् 1290 में रावल पून्यपाल पूगल के पाहू भाटियों और बीकमपुर के जैतूंग भाटियों की सहायतार्थ उस क्षेत्र में गये। पीछे से सामन्तों ने मिलकर तेजसिंह के पुत्र जैतसी को रावल घोषित कर दिया। मात्र दो वर्ष व पाँच माह बाद पून्यपाल पदच्युत कर दिए गये। उस समय उनका कोई स्थायी ठिकाना नहीं था और उनकी पुत्री जवान हो रही थी अतः उन्होंने चित्तौड़ के राणा रत्नसिंह के साथ सन् 1300 में पद्मिनी का विवाह कर दिया। जैसलमेर व चित्तौड़ के बीच पहले भी वैवाहिक सम्बन्ध रहे थे। रावल पून्यपाल ने अपने पूर्वजों की भूमि को लंगाओं, बलोचों, नायकों और मुलतान से मुक्त करवाने के प्रयास किए पर अर्थ व साधन के अभाव में सफल नहीं हो सके। बड़े यत्न के पश्चात् उनके पड़पौत्र राव रणकदेव सन् 1380 में पूगल के गढ़ पर विधिवत स्थापित हुए।

संघ की गतिविधियाँ :- सहज दैनिक गतिविधियों के अतिरिक्त नवम्बर माह में संघप्रमुखश्री कुचामन, भीलवाड़ा, चित्तौड़गढ़, उदयपुर और वागड़ क्षेत्र की यात्रा पर रहे और जन सम्पर्क किया। गुजरात में कच्छ व बनासकांठा क्षेत्र में सम्पर्क यात्राएँ सम्पन्न हुई। संघ के निर्देशन में कई जगह कर्मचारी व शिक्षक सम्मेलन सम्पन्न हुए।

चलता रहे मेरा संघ

(दंपती शिविर कन्याकुमारी में 19.2.2013)

को दोपहर बाद के सत्र में संघप्रमुखश्री
भगवानसिंहजी का उद्बोधन)

संसार में समय-समय पर अज्ञान और अंधकार से घिरे हुए लोगों को उस धेरे से बाहर निकालने के लिये महापुरुष आते हैं। उनके बताए मार्ग पर चलकर लोग अपना कल्याण करते हैं। निर्देशित मार्ग पर चलने वाले अनुचरों के चलते-चलते नये पथ बन जाते हैं। धीरे-धीरे समाज में फिर अंधकार फैलने लग जाता है और उसके बढ़ते-बढ़ते समाज अंधकार से आच्छादित हो जाता है। तब फिर कोई महापुरुष इस धरती पर प्रकाश फैलाने आता है।

सत्युग में सब जगह सत भाषित होता है। धीरे-धीरे तम प्रसारित होता है, त्रेता में विकृतियाँ आती हैं तब त्रेतायुग में राम आए। राम ने तम दूर किया विकृति केन्द्रों को समाप्त किया मगर द्वापर आते-आते पुनः विकृतियाँ गहराती हैं। तब कृष्ण आए और मार्ग दिखाया। अब कलयुग आ गया। कलयुग 4 लाख 32 हजार वर्ष का बताया जाता है। अभी तो कलियुग की प्रारम्भिक अवस्था ही है लेकिन हम देख रहे हैं कि परिवार में, समाज में, राष्ट्र में मर्यादाएँ टूट रही हैं, बहुत विकृतियाँ पाँच पसार चुकी हैं। कलियुग अभी तो बहुत लम्बा है तब न जाने क्या-क्या बुरा देखना शेष है। हम न रहें, पर जमाना तो उस विकृत रूप को देखेगा।

अच्छाइयाँ आती रही हैं और जाती रही हैं। आगे भी आती रहेगी और जाती रहेगी। सत्युग में वेद आए और उनकी मर्यादा में समाज चला। त्रेता में रामायण के रूप में राम का जीवन लोगों का आदर्श बना। द्वापर में उपनिषद् और पुरान लिखे गए। लेकिन सद्गुर्न्थों की व्याख्या करने वाले जब कुटिल हो जाते हैं तो श्रेष्ठ के अर्थ भी बदल जाते हैं। उपनिषद के अर्थ बदल दिए गये। यज्ञ बलि का प्रावधान, मंदिरों में नृत्यांगना आदि-आदि

धर्म के नाम पर कुकर्म पनप गये। बौद्ध धर्म उसी की प्रतिक्रिया की उपज है।

संसार है ही दुखमय। एक रात स्वयं दुखी होने पर संसार को मार्ग दिखाने बुद्ध घर से निकल पड़े। प्रारम्भ में उनके पास कोई बैठता तक नहीं था। सारनाथ में उनको दुत्कारा गया। गया की तरफ गए और 6 वर्ष की कठोर तपस्या के बाद तेज संयम और असंयम को छोड़कर मध्यम मार्ग अपनाया। बीणा के तार ढीले रहें तो स्वर नहीं निकले और अत्यधिक कर्से तो टूट जाएँ। संतुलित कसे हों तो मधुर स्वर देते हैं। तब 10-10 हजार लोग पीछे चलने लग गये। बौद्ध धर्म इतना प्रसारित हुआ कि राजधर्म बन गया। पहले पुरुष ही बौद्ध अनुयायी बन रहे थे, फिर स्त्रियाँ भी अनुचर बनी। भारत में ही नहीं, भारत के बाहर भी खूब प्रसारित हुआ।

बौद्ध धर्म में भी विकृतियाँ पनपने लगी तो आदि शंकराचार्य आए। विकृति रहित सनातन धर्म का प्रसार हुआ। लेकिन विकार भी प्रसारित होते रहे इसलिए अनेक महापुरुषों ने अपनी-अपनी क्षमतानुसार समाज व्यवस्था को विकारों से बचाने के प्रयास किए। गुरुनानक, रामदेवजी, राजाराममोहनराय, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, देवेन्द्रनाथ, रविन्द्रनाथ, स्वामी दयानन्द आदि-आदि सभी ने प्रयास किया।

आज पुनः हम विकृतियों से घिरे हुए महसूस कर रहे हैं। अपने आपको बदलकर ही विकृतियों से छुटकारा पा सकते हैं। क्षत्रिय युवक संघ वही कार्य कर रहा है और इसका कार्य-क्षेत्र पूरा समाज है। समाज में, परिवारों में जो चल रहा है क्या उसे चलने दिया जाए? कन्याओं का वध चारों ओर फैला। धीरे-धीरे कम हुआ। आज कुछ जगह छोड़कर अन्यत्र यह विकृति नहीं है। पर आज तो इसका रूप ही बदल गया। जन्म के पहले ही भ्रूण हत्याएँ हो रही हैं। इस पर चर्चाएँ भी खूब होती हैं, कानून भी बना है लेकिन कोई फर्क नहीं। चोरी-छिपे

जाँच करवाली जाती है और भ्रूण हत्या की यह प्रवृत्ति फैल ही रही है।

यदि हम जाग्रत हैं तो हमें विचार करना चाहिए। रोग फैलने पर चिकित्सक लक्षण देखता है और फिर निदान करता है। पहले हम रुग्णता को स्वीकारें तो सही। यह रोग है इसको मान लेते हैं तो विचार करें कि इसका निदान क्या है। सन्निपात के रोगी की तरह भ्रूण हत्या के इस रोग से हम ग्रस्त हैं पर इसको अनुभव ही नहीं कर रहे। इसके कारण का पता नहीं और इसका समाधान ढूँढते नहीं। कारण मालूम होगा तो ही समाधान ढूँढ पाएंगे। समाधान लागू करने में तकलीफ हो सकती है, बाधाएँ अपने-परायों से आ सकती हैं। पर रोग है तो चिकित्सा होनी ही चाहिए। बीमार बच्चे को माँ उसके हित के लिये खारी दवाई भी देगी। श्रेष्ठ चिकित्सक रोगी की छाती पर बैठकर भी दवा देगा क्योंकि यही रोगी के हित में है। क्या आप वैद्य बन सकते हैं? विरोध को सहकर भी क्या आप इसे रोकने का प्रयास कर सकते हैं? जो विरोध से डरता है वह कभी ऐसा काम नहीं करेगा।

पहले हम कारण ढूँढ़ें। लड़के और लड़की के जन्म में जो भेद किया जाता है वह यह है कि लड़के से वंश चलता है, लड़की से नहीं। यह भ्रांति मिटाएँ। आज हम जिस विशाल स्थल पर शिविर में बैठे हैं वह विवेकानन्द केन्द्र क्या उनका वंश नहीं चला रहा। पूरी दुनिया में उनका नाम है, उनका दिशादर्शक साहित्य है। उनका वंश चल रहा है न। अकेला भाई था पर साहसी था, माता-पिता का सहयोग रहा। विवाह किया नहीं पर विवेकानन्द को कौन नहीं जानता? पाबूजी का वंश चल रहा है न। उनके दादा को कोई नहीं जानता होगा पर पाबूजी को तो जानते हैं। जिनका नाम रह जाता है वही वंश का चलना है। वंश बेटों से चलता है, यह भ्रांति मिटा देनी चाहिए। और यदि कन्या नहीं होती तो हम कैसे होते? पत्नी कहाँ से आती? ममता कौन लुटाता? कन्या के महत्त्व को हम

क्या ठीक प्रकार समझ सके हैं? हमारी जो यह मान्यता है इसको मिटाने की चुनौती हमारे सामने आई है, इसे मिटाना ही होगा। हम तो गीत गाते हैं-‘मोड़ देंगे नदियाँ किन्तु मुड़ेंगे नहीं।’

लड़की की चाह न होने का दूसरा कारण है उसके विवाह का खर्च। विवाह तो लड़के और लड़की दोनों का होता है। पर लड़की के पिता के घर पर ही खर्चा होता है। पर यह खर्चा करवाता कौन है? यह स्वीकार कर लें कि महिलाएँ ही इस सम्बन्ध में अधिक अपराधी हैं। कन्या को मारने वाली भी माँ और खर्चा भी महिलाएँ ही करवाती हैं।

बड़ी बारात आती है। पहले बारात बड़ी होती थी ताकि मार्ग में कोई लूटपाट न कर सके। पर आज कौन लूटता है? तब आज बारात की क्या जरूरत है? और बारात की आवश्यकता भी हो तो कितने लोगों की? पारिवारिक कार्य है तो केवल वे ही लोग आवश्यक हैं, अनावश्यक क्यों भीड़ करते हैं? बैंड की क्या आवश्यकता है? पड़ला क्यों? दिखावा क्यों? टीका क्यों? कभी इस पर विचार ही नहीं करते। विवाह तो लड़के का भी हो रहा है, फिर उसके पिता क्या खर्च कर रहे हैं। ऐसा माहौल बना हुआ है जैसे वे तो भिखारी बन गए हैं।

वैदिक काल में गुरुकुल में ही लड़के को पसंद कर उसके पिता से लड़की का पिता बात कर लेता और अपने घर ले जाकर विवाह कर देता। वह आदर्श विवाह था। आज माँ होती है। मांने वाली तो राक्षस वृत्ति है। यही वृत्ति भ्रूण हत्या का कारण बनती है। ईश्वर के मंगलमय विधान की मजाक उड़ाने वाला सुखी नहीं रह सकता। इस पवित्र स्थान पर इन सभी बातों पर विचार कर अपने अंतःकरण को पवित्र करने का यह अवसर क्षत्रिय युवक संघ ने प्रदान किया है, इसका लाभ उठाएँ और विभिन्न विकारों से छुटकारा पाने में जुटें।

*

अपने घर लड़की का जन्म कोई नहीं चाहता, पर अपने लड़के के लिये पत्नी घर में सभी लाना चाहते हैं।

- श्री चन्द्रप्रभ

गतांक से आगे पूज्य श्री तनसिंहजी (के सम्बन्ध में)

“जो कुछ देखा, समझा व अनुभव किया”

- चैनसिंह बैठवास

इस संसार में माँ जैसा कोई नहीं होता है। माँ शब्द इतना भावपूर्ण व वात्सल्यपूर्ण है कि यह हृदय से निकलते ही शरीर का रोम-रोम रोमांचित हो उठता है। माँ शब्द में संसार की समस्त करुणा व वात्सल्य छिपा पड़ा है। माँ के प्यार से बढ़कर इस संसार में कुछ भी नहीं है। माँ के प्यार में कभी पतझड़ नहीं आता। वह तो ममत्व का मूर्त रूप है। उनके हृदय में तो ममत्व का सागर लहराता ही रहता है जिसे हम सभी ने महसूस किया है।

हमने अपनी माँ को देखा है और पूज्य श्री तनसिंहजी के माँसा को भी देखा है। हमारे दिल में जैसी छवि अपनी माँ की है उससे कम माँसा की भी छवि नहीं है। अपनी माँ के सामने हमारा सिर झुका है या नहीं पर माँसा के सामने तो यह सिर अनायास ही झुक जाया करता था। क्यों न झुकता? पूज्य श्री तनसिंहजी जैसे महापुरुष को जन्म देने वाली माँ कोई साधारण माँ नहीं हो सकती, वह तो एक विभूति थी, तपस्विनी, मंगलमयी, कल्याणदायिनी देवमाता थी जिनके सामने तो यह सिर झुकना ही था, झुका है और झुकता ही रहेगा। उनके चरणों में शीतलता व आर्द्रता का जो अहसास होता था, वह कहने में नहीं आता।

पूज्य श्री तनसिंहजी ने हमें एक संगठन का सूत्र दिया, हमारे भीतर सोयी आत्मीयता को जगाकर अपनेपन का अहसास कराया और माँसा ने उस आत्मीयता को सींचा है, सजलता प्रदान की है, उस संगठन (श्री क्षत्रिय यवुक संघ) के लिये सहदयता से सदैव मंगलकामना की है। उनका दिल तो ममता का घर, स्नेह का आगार और दया का सागर था।

जब अंश पेट में पड़ता है, तब से लेकर जन्मता है, बड़ा होता है और फिर वह चाहे कितना भी बड़ा

आदमी क्यों न बन गया हो, माँ का हृदय तो निरंतर उसकी मंगल कामना में ही लगा रहता है। यही बात हमने माँसा में पायी, उनका हित इस सांघिक परिवार की मंगल कामना में सदैव लगा रहता था। वे इस सांघिक परिवार को अपना ही परिवार समझती थी। यह बात उनके व्यवहार में स्पष्ट झलकती देखी गयी। उनकी बात-बात में, उनके अपने उद्गार में यही बात प्रकट होती रहती थी। उनकी जुबानी जो हमने सुना है-“1960 की शीतला सासमी का दिन, दोपहर का समय, वह (पूज्यश्री तनसिंहजी) छत से पिर पड़ा और उसके दोनों हाथ टूट गए। दोनों हाथों पर प्लास्टर चढ़ा दिया गया। न अपने हाथ से खा सकता था, न पी सकता था, न नहाना हाथ से, न खुजलाना। इन्हीं दिनों उसके इस संघ परिवार को अधिक गहराई से देखने का अवसर मिला। मुझे अनुभव हुआ कि मेरे केवल एक ही बेटा नहीं है। न जाने उसके कितने भाई हैं, न जाने मेरे कितने बेटे हैं।” आगे माँसा ने कहा-“बेटा केवल वही नहीं होता जो कोख से जन्म लेता है, माँ भी केवल वही नहीं होती जो जन्म देती है। माँ-बेटा तो एक सम्बन्ध होता है, संसार का सर्वाधिक पवित्र सम्बन्ध, सर्वथा निर्मल सम्बन्ध, सदा सर्वदा बना रहने वाला अटूट सम्बन्ध।”

पता है, श्री क्षत्रिय युवक संघ में माँसा का क्या स्थान था? संघ में माँसा का स्थान सर्वोपरी था। माँसा का आदेश सर्वोपरी व अन्तिम होता था। पूज्य श्री तनसिंहजी अपनी प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करके आगे चौपासनी विद्यालय जोधपुर में आगे की शिक्षा प्राप्त करने के लिये माँसा की आज्ञा लेकर ही आये थे। माँसा की आज्ञा से ही उन्होंने पिलानी व नागपुर में शिक्षा पायी। पूज्य श्री माँसा की आज्ञा बगैर एक कदम भी आगे नहीं बढ़ाते थे। कोई भी काम चाहे वह राजनैतिक चुनाव का

हो या सामाजिक, माँसा की अनुमति लेकर ही आगे बढ़ते थे। कोई भी काम के लिये माँसा की अनुमति उनकी पहली शर्त थी, बिना स्वीकृति उन्होंने कोई कदम नहीं उठाया। माँसा कहते हैं—‘मेरा कहना उसने कभी नहीं किया। संसार से विदाई लेने से पूर्व भी वह मुझसे इसकी स्वीकृति मागने आया था। एक दिन वह मेरे पास बैठा था। एक चिड़िया चहचहा (बोल) रही थी। उसने मुझे कहा—माँ! पता है, यह चिड़िया क्या कह रही है? घर में जो बड़ा है, उसे बुला रही है। मैंने कहा—बुला रही है तो तू चला जा। उसकी भाषा को समझ नहीं पाई तो इसमें उसका क्या दोष? सोचती हूँ, यदि मेरी स्वीकृति नहीं होती तो वह विदाई भी नहीं लेता। अन्तिम विदाई के सोलह घण्टे पूर्व वह मेरे पास आकर बैठा और बोला—मैं समुराल जाना चाहता हूँ, मैंने सोचा अपने समुराल छोल जाना चाहता है। ठीक ही तो है, अपने बूढ़े खवसुर व अन्य समुराल वालों से मिल आएगा। मैं कहाँ जानती थी, कि वह जहाँ जाना चाहता है, वह समुराल तो कहीं और है। मैंने राजी होकर कह दिया—चले जाओ, तुम्हारे जाने से तुम्हरे समुराल वालों को भी प्रसन्नता होगी। और दूसरे दिन प्रातः ही वह चला गया। मेरे आँगन के नन्हे बच्चों का पिता चला गया और तुम्हारा बन्धु चला गया।’

एक बार पूज्य भगवानसिंहजी तीन-चार स्वयंसेवकों के साथ जीप में नागौर से जोधपुर आ रहे थे। जीप पूज्य भगवानसिंहजी चला रहे थे। जोधपुर शहर के नजदीक ही टूटियों की बाड़ी नामक स्थान पर एक ट्रक ने जीप को टक्कर मार दी। जीप बुरी तरह क्षतिग्रस्त हो गयी। जीप

को देखकर कोई नहीं कह सकता कि इसमें बैठे हुओं में से कोई बचा हो। थोड़ी बहुत सबको चोटें लगी लेकिन पूज्य श्री भगवानसिंहजी अधिक चोटिल हुए। उनके हाथ-पैर में फ्रेक्चर हो गया, पेशाब की नली बुरी तरह क्षतिग्रस्त हो गयी। जब माँसा को इस हादसे का पता चला तो वे स्वयं जोधपुर पहुँचकर अस्पताल में भगवानसिंहजी से मिलने आये। माँसा ने उन्हें आगे से ड्राइविंग न करने की हिदायक दी और पूज्य भगवानसिंहजी ने उनके इस आदेश को सर्वोपरी मानकर फिर कभी भी ड्राइविंग नहीं की। माँसा के जीवन काल में पूज्य भगवानसिंहजी ने उनकी किसी बात का उल्लंघन नहीं किया तथा माँसा ने जैसा चाहा वैसा ही होता रहा।

माँसा तो वह मूरत थी जिसमें दया, क्षमा, प्रेम, सहानुभूति, ममता, सौम्यता, संस्कारिता, सहदयता, मृदुता, वात्सल्य, स्नेह, सहनशीलता आदि गुणों का समावेश था। माँसा के इन गुणों के आगे हमारा मस्तिष्क सहज ही आदर सहित उनके चरणों में झुक जाया करता था।

माँसा का आशीर्वाद आज भी हमारे साथ है। उनके आशीर्वाद से ही श्री क्षत्रिय युवक संघ निरंतर आगे बढ़ रहा है और दिनों-दिन फल-फूल रहा है तथा लगातार विस्तार पा रहा है। माँसा तो वात्सल्य, निस्वार्थ सेवा और समर्पण—इन तीनों गुणों का “त्रिवेणी” संगम है। उनका जीवन हमारे लिये प्रेरणा स्रोत है।

**ममता के मन्दिर की है, तू सबसे प्यारी मूरत।
भगवान नजर आता है, जब देखें तेरी सूरत॥**

ऐसे महामहिम करुणामयी, मांगलमयी, कल्याणी माँसा के चरणों में शत्-शत् बन्दन, नित्य बंदन। **(क्रमशः)**

माँ तीन लोकों की सौभाग्यशाली पूज्य देवी है, जिसके हृदय में कोमलता, पवित्रता, सहिष्णुता एवं शीतलता जैसे उत्कृष्ट गुणों का समावेश है। जिसकी मन्द-मन्द मुस्कान में सृजन रूपी शक्ति है। जो हमें सद्मार्ग के चर्मोत्कर्ष शिखर तक पहुँचाने हेतु उत्प्रेरित करती है। समय-समय पर आल्हादित ही नहीं बल्कि उत्प्रेरित, गौरवान्वित करती है। संतान को आल्हादित अनुभूति का प्रतिपादन करती है।

अक्टूबर अंक से आगे

क्षत्रियत्व की प्रतिमूर्ति : दुर्गादास राठौड़

- रेवंतसिंह पाटोदा

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के अठारहवें अध्याय के तैयालीसवें श्लोक में क्षत्रिय के गुणों का वर्णन करते हुए बताया कि शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्ध से पलायन न करना, दानशीलता एवं ईश्वरीय भाव क्षत्रिय के स्वाभाविक गुण हैं। दुर्गादासजी इन गुणों की प्रतिमूर्ति थे। अक्टूबर अंक तक हमने शौर्य, तेज एवं धैर्य का विवेचन पढ़ा। इस अंक में प्रस्तुत है चौथे गुण दक्षता एवं दुर्गादास जी के जीवन का विवेचन।

दक्षता के पर्यायवाची के रूप में चतुराई शब्द का उपयोग किया जाता है। कूटनीति शब्द का अर्थ भी इसके आस-पास ही ठहरता है। दक्षता को परिभाषा में बांधे तो परस्पर झाँगड़ा करने वालों का न्याय करने में, अपने कर्तव्य का निर्णय और पालन करने में, संघर्ष में, मित्र, दुश्मन, मध्यस्थों के साथ यथायोग्य व्यवहार करने में जो कुशलता है, उसी का नाम दक्षता है।

उपर्युक्त परिभाषा में आये शब्दों पर दुर्गादासजी के जीवन को कसें तो वे शत प्रतिशत खरे उतरते हैं। पूरे मध्यकालीन इतिहास में अनेक गुणों के साथ-साथ दुर्गादासजी का यह गुण उहें उस काल के हर नायक पर इक्कीस सिद्ध करता है। इस परिभाषा के प्रथम अंश पर चर्चा करें तो दुर्गादासजी ने अपनी दक्षता से परस्पर झाँगड़े पर उतारू अनेक लोगों को परस्पर साथ बैठाकर न्यायपूर्ण मेल-मिलाप करवाया। औरंगजेब के पुत्र अकबर को अरब के लिये विदा कर दक्षिण से लौटते समय मालवा में रतलाम के शासक शिवसिंह के विद्रोही काका अखैराज राठौड़ से मिले जो रामपुरा के आसपास विद्रोही जीवन जी रहे थे, जबकि शिवसिंह औरंगजेब की सेवा में थी। दुर्गादास जी अखैराज जी को साथ लेकर मारवाड़ आये। उन्हें अपने पास रखा। सन् 1688 में अपने मालवा व मेवाड़ प्रवास के दौरान दुर्गादासजी ने अखैराजजी की

रामपुरा के चन्द्रावतों से सुलह करवा कर उनके मनोमालिन्य को दूर किया। फरवरी 1692 में मेवाड़ के महाराणा जयसिंह और उनके पुत्र अमरसिंह के बीच आपसी संघर्ष को आगे न बढ़ाने देकर समझौता करवाने में दुर्गादासजी की केन्द्रीय भूमिका उनकी दक्षता का ही परिणाम है। अपने जीवन के उत्तरार्ध में अगस्त 1717 में मालवा के रामपुरा रियासत की गुरुत्वी को सुलझाकर राव गोपालसिंह, संग्रामसिंह चन्द्रावत सहित अन्य चन्द्रावत सरदारों व क्षेत्रीय देवड़ा सरदारों के हस्ताक्षर सहित समझौता करवाना दुर्गादासजी की परस्पर झाँगड़ा करने वालों में मेल-मिलाप करवाकर न्याय स्थापित करवाने की क्षमता का श्रेष्ठ उदाहरण है।

दुर्गादास जी की अपने कर्तव्य का निर्णय एवं पालन करने की दक्षता तो जगत विख्यात है। उनके जीवन को लेकर कोई यह विपरीत टिप्पणी नहीं कर सकता कि उनके जीवन का एक भी निर्णय उनके कर्तव्य पालन के विमुख रहा है।

उनकी दक्षता का सर्वश्रेष्ठ रूप मित्र, दुश्मन या मध्यस्थ के साथ यथोचित व्यवहार करने की क्षमता है। उनके इस गुण का उत्तम उदाहरण औरंगजेब के पुत्र अकबर को उसके पिता के विरुद्ध खड़ा करना है। शत्रु की शक्ति को विभाजित करने का ऐसा उदाहरण उनके काल के निकट के इतिहास में बिल्ला ही है। हमारे इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिल जाएंगे जब दुश्मन ने हमारे ही अंश को हमसे ही भिड़ा कर सफलता हासिल की, लेकिन दुर्गादास जी ऐसे बिल्ले व्यक्तित्व हैं जिन्होंने दुश्मन की इस चाल का सफलतापूर्वक प्रयोग कर औरंगजेब को मनवैज्ञानिक शिक्षत दी।

दुर्गादास जी का पूरा जीवन दक्षतापूर्ण उदाहरणों से भरा पड़ा है। उन्होंने जहाँ जैसी आवश्यकता थी, वैसी

नीति अपनाई। जब सन्मुख युद्ध की आवश्यकता पड़ी तो सन्मुख युद्ध लड़ा। जहाँ प्रेम से काम हो सकता था वहाँ प्रेम से काम चलाया और जहाँ संधि की आवश्यकता हुई, वहाँ संधि की। यदि कभी पीछे हटना अपने उद्देश्य में सहायक लगा तो पीछे भी हट गए। उनके लिये भगवान् कृष्ण की तरह अपने उद्देश्य की पूर्ति महत्वपूर्ण थी और उसकी पूर्ति में आडे आने वाले सभी प्रकार के व्यक्तिगत एवं अन्य प्रकार के आग्रहों को उन्होंने कभी महत्व नहीं दिया। जसवंतसिंहजी के प्रतिनिधि के रूप में मुगल दरबार में अपना दायित्व दक्षतापूर्वक निभाया, वहीं दुश्मन की दाढ़ में से अजीतसिंह को निकालकर सुरक्षित स्थान पर पहुँचाया। बादशाह के खोजी दस्तों से बचाकर अजीतसिंह का लालन-पालन एवं सुरक्षा दक्षता के अभाव में संभव नहीं थी। मेवाड़ के महाराणा के साथ मिलकर औरंगजेब के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा खोला, मुगल थानों को लूटा और औरंगजेब जब मेवाड़ में उनका पीछा करने मेवाड़ आया तो दुर्गादास जी जालोर पहुँच गए और जालोर के मुगल सेनानायक से हर्जाना वसूला। वहाँ से बिलाड़ा के लिये कूच किया। पीछा करने आया बादशाह देबारी की घाटी से ही वापस लौट गया। हिन्दुस्तान के इतिहास के क्लूर और कुटिलतम बादशाह को ऐसी कूटनीतिक पराजय दुर्गादास जी की दक्षता का ही परिणाम है।

बहादुरशाह के साथ जुलाई 1708 में दक्षिण में बादशाही फौज को छोड़कर जोधपुर पर अजीतसिंह का आधिपत्य बनाना दुर्गादास जी की दक्षता का ही परिणाम था। उसी उत्साहजनक वातावरण का परिणाम था कि खालसा किए गये आमेर पर सर्वाई जयसिंह का पुनः अधिकार हो गया। इससे भी आगे 3 अक्टूबर, 1708 को सांभर के युद्ध में मारवाड़ और जयपुर की मुगालों पर विजय दुर्गादास जी की दक्षता का शानदार उदाहरण है जिसमें समान उद्देश्य के लिये जयपुर और जोधपुर को मेवाड़ की सम्मति से एक साथ काम करने को तैयार किया गया था।

फल मानव के कर्माधीन है, बुद्धि कर्मानुसार आगे बढ़ाने वाली है, तथापि विद्वान् और महात्मा अच्छी प्रकार से सोचकर ही कोई कर्म करते हैं। - चाणक्य

जनवरी 1684 में अपने दक्षिण प्रवास के दौरान पुर्तगालियों, शंभाजी और अकबर के बीच समझौता करवाने में दुर्गादासजी की महत्ती भूमिका भी उनकी दक्षता का ही परिचायक है और इसके लिये पुर्तगालियों द्वारा उन्हें उपहार भी भेंट किए गये। इस प्रकार उन्होंने अपने दुश्मन औरंगजेब को अपने लक्ष्य के प्रति दूकाने के हर अवसर का दक्षतापूर्वक उपयोग किया और विशाल मुगल साम्राज्य की नीवों को खोखला करते रहे। उन्होंने दक्षिण प्रवास में शंभाजी के विरोधियों द्वारा अकबर को शंभाजी के विरुद्ध उपयोग करने के पड़यंत्र का भंडाफोड़ किया और औरंगजेब के विरुद्ध अकबर की सहायता हेतु शंभाजी को तैयार करने के लिये उपयुक्त वातावरण बनाने का प्रयास किया। इसी के परिणाम स्वरूप 13 नवम्बर, 1681 को पादिशाहपुर में अकबर और शंभाजी की भेंट हुई एवं उस भेंट में शंभाजी ने दुर्गादासजी के प्रति बहुत सम्मान प्रकट किया। उनकी दक्षिण यात्रा के बारे में यदुनाथ सरकार ने लिखा है कि समकालिकों को सहज ही विश्वास नहीं होता कि कैसे एक छोटा-सा दस्ता इतनी लम्बी और बीहड़ दक्षिण यात्रा में शाही पकड़ से बच निकलता रहा। यह दुर्गादासजी के प्रबन्धन और दक्षता के बिना संभव नहीं था।

इससे भी आगे अकबर की संतानों को अपने कब्जे में रखना एवं तुरुप के पत्ते के रूप में अन्तिम समझौते के समय उनका उपयोग करना दुर्गाबाबा की कूटनीति का श्रेष्ठ उदाहरण है। अंत में यही कहा जा सकता है कि अद्भुत वीरता और रणकौशल के धनी हमारे मध्यकालीन नायकों ने दुर्गादास जैसी कूटनीति का कुछ अंश भी अपनाया होता तो इतिहास कुछ और होता। दक्षता एवं कूटनीति के विषय में अपने उद्देश्य के प्रति सच्चा रहते हुए भगवान् कृष्ण का किसी ने श्रेष्ठ अनुसरण किया तो वे दुर्गादास जी ही थे।

(क्रमशः)

गतांक से आगे

भगवद्गीता की महिमा

– स्वामी यतीश्वरानन्द

शब्द तत्त्व और नाद-ब्रह्म :

पतंजलि भी अपने योगसूत्रों में ओम् को ईश्वर का वाचक कहते हैं। वे यह भी कहते हैं कि इस ओंकार के जप से आध्यात्मिक प्रगति के अन्तराय दूर होते हैं और प्रत्यक्-चेतन की प्राप्ति होती है। इस प्रकार ‘ओम्’ हिन्दू धर्म के सबसे महत्वपूर्ण शब्दप्रतीकों में से एक है। लेकिन वह सन्त जॉन द्वारा कथित इसा मसीह की कथा में उल्लिखित ‘शब्द’ से अधिक रहस्यमय नहीं है। सन्त जॉनकृत कथा का प्रारम्भ निम्न प्रकार है :

(सृष्टि के) प्रारम्भ में शब्द था,
और शब्द ही ईश्वर था।
वही प्रारम्भ में ईश्वर के साथ था।
उसने सभी वस्तुओं की रचना की,
उसमें ही जीवन था, और जीवन
मानवों की ज्योति था।
और शब्द ने स्थूल आकार धारण किया
और हमारे बीच रहा।

इस चतुर्थ धर्मोपदेश के लेखक ने यहाँ इसा मसीह का शब्द के साथ, यूनानियों के शब्दतत्त्व के साथ एकत्र बताने का प्रयत्न किया है। परन्तु उस समय यह मान्यता नवीन नहीं थी। ऑसीरिस, मिश्रा आदि पुरातन सम्प्रदायों के कुछ देवताओं को भी किसी समय अनादि शब्दतत्त्व की अभिव्यक्तियाँ समझा जाता था।

लोगोस या शब्दतत्त्व की धारणा पुरातन काल में काफी प्रचलित थी। पुरातन यूनानी दार्शनिकों में से एक हेरक्लेटस के अनुसार सृष्टि के क्रम परिवर्तनों को नियन्त्रित करने वाला कोई तत्त्व होना चाहिए और उसने उसे ‘लोगोस’ कहा। बाद में उसे सार्वभौमिक बुद्धि कहा जाने लगा, मानव बुद्धि जिसका एक अंग है। स्टोएक मतावलम्बियों ने उसे ईश्वर-विषयक मान्यता प्रदान कर लोगोस को अपने सर्वेश्वरवादात्मक सिद्धान्त के साथ मिला दिया। यहूदी सर्वप्रथम यह मानते थे कि जगत् की उत्पत्ति

‘ईश्वर के शब्द’ से हुई है। परवर्ती यहूदी-दार्शनिक सिकन्दरिया के फिलो ने इस शब्द या ‘ईश्वर के ध्वास’ को पृथक् सत्ता मानकर उसे लोगोस की संज्ञा दी। उसके अनुसार परमात्मा इस संपूर्ण जगत् पर लोगोस के माध्यम से प्रभाव विस्तार करता है। चतुर्थ धर्मकथा के लेखक संत जॉन ने लोगोस और ईश्वर को एक मानकर एक ही ईश्वरीय सत्ता और कर्ता के दो नाम बताये। इसी लोगोस ने इसा मसीह के रूप में मूर्त रूप धारण किया।

भारत में लोगोस या शब्दतत्त्व के सिद्धान्त का प्रारम्भ व्याकरणाचार्यों से हुआ, जिन्होंने उसे ‘स्फोट’ संज्ञा दी। बाद में तंत्रों में उसका विकास हुआ। तंत्रों का एक अंग, मंत्रशास्त्र, इस सिद्धान्त पर आधारित है कि समग्र ब्रह्माण्ड स्पन्दनों से निर्मित है। जिसे हम शब्द कहते हैं, वह केवल बाह्य भौतिक स्पन्दन मात्र है। रेडियो तरंगों जैसी इलेक्ट्रो मेनेटिक या विद्युतचुम्बकीय तरंगें श्रवणगोचर शब्द से सूक्ष्मतर हैं। ये ईश्वर या व्योमतत्त्व की तरंगें हैं। रेडियोग्राहक यंत्र में विद्यमान विशेष यंत्र रेडियो तरंगों को श्रवणगोचर स्पन्दनों में परिवर्तित कर सकता है। चित्तवृत्तियाँ इनसे भी सूक्ष्मतर हैं। विचार पुनः नादब्रह्म (या शब्द-ब्रह्म) या विराट मन के चिरंतन अतीन्द्रिय विराट-स्पन्दनों की अभिव्यक्ति हैं।

नादब्रह्म एक दार्शनिक सिद्धान्तमात्र नहीं है। इसकी अनुभूति की जा सकती है। सूक्ष्म मन द्वारा इसे सुना जा सकता है। जिस प्रकार सूक्ष्म रेडियो तरंगों को सुनने के लिये विशेष यंत्र की आवश्यकता है, उसी प्रकार नादब्रह्म के स्पन्दनों को सुनने के लिये अत्यन्त पवित्र मन आवश्यक है। मन के शुद्ध और एकाग्र होने पर चिरन्तन, अत्यन्त सूक्ष्म, विश्वजनीनस्पन्दन, दीर्घ, निरवच्छिन्न अनाहत ध्वनि सुनाई देती है। यह कल्पनामात्र नहीं है। और न ही कान के किसी रोग से ऐसा होता है। अतिमात्रा में कुर्झनाइन के सेवन से अथवा सिर पर चोट लगने से पैदा हुई स्थूल ध्वनि से इसका कोई सम्बन्ध

नहीं है। अंगुलियों से कानों को बंद करने पर पैदा होने वाली भिनभिनाहट भी यह नहीं है। यह दीर्घ निरंतर-साधना द्वारा प्राप्त एक नितान्त भिन्न प्रकार की अनुभूति है। अनाहत ध्वनि वह सूक्ष्म ध्वनि स्पन्दन है, जो फव्वारे में उठ और गिर रहे जल की तरह नादब्रह्म या विराट मन से उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाता है।

ये विराट सूक्ष्म ‘धड़कनें’ मन के शान्त होने तथा आध्यात्मिक चेतना के उच्चतर-स्तर पर आरोहण करने पर ही सुनी जा सकती है। लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि आध्यात्मिक पथ का प्रत्येक पथिक इसे सुने। यह उनके द्वारा सुनी जाती है, जिनके मन उसके स्पन्दनों के साथ समरस हो जाते हैं। अन्य उच्च साधकों को अन्य प्रकार की अनुभूतियाँ हो सकती हैं। अनाहत ध्वनि हमें विद्यमान केन्द्रिय नाड़ी सपुत्रा नाड़ी की सक्रियता से सम्बन्धित है। यह नाड़ी अधिकांश लोगों में बन्द रहती है। चित्तशुद्धि, तीव्र सुरक्षा और एकाग्रता के द्वारा इस नाड़ीमार्ग को खोला जा सकता है। तब आध्यात्मिक प्रवाह एक सूक्ष्म आध्यात्मिक संगीत करता हुआ उससे होकर ऊपर उठता है। पुरातन यूनान के पाईथागोरियन योगी इसे “ब्रह्माण्ड का संगीत” कहते थे। हिन्दू भक्त इसे कभी “श्रीकृष्ण की वेणु” कहते हैं। यह नित्य कृष्ण की वास्तविक वेणु है। परमात्मा से प्रवाहित हो रहा दिव्य संगीत जीव को आनन्द विभोर कर देता है, और उसे आध्यात्मिक चेतना के उच्च स्तरों की ओर ले जाता है। जैसा स्वामी विवेकानन्द ने कहा है :

स्पष्ट रूप से उच्चारित जितनी भी ध्वनियाँ हैं, उनकी उच्चारण क्रिया मुख में जिह्वा के मूल से आरम्भ होती है, और ओठों में आकर समाप्त हो जाती है। ‘अ’ ध्वनि कण्ठ से उच्चारित है और ‘म’ अन्तिम ओष्ठ-ध्वनि है। और ‘उ’ उस शक्ति का द्योतक है, जो जिह्वा मूल से आरम्भ होकर मुँहभर में लुड़कती हुई ओठों में आकर समाप्त होती है। यदि इस ‘ॐ’ का उच्चारण ठीक ढंग से किया जाए, तो इससे शब्दोच्चारण की संपूर्ण क्रिया सम्पन्न हो जाती है। दूसरे किसी शब्द में यह शक्ति

नहीं है। अतएव यह ‘ॐ’ ही स्फोट का सर्वाधिक उपयुक्त वाचक शब्द है और यह स्फोट ही ‘ॐ’ का प्रकृत वाच्य है। और चूंकि वाचक वाच्य से कभी भी अलग नहीं किया जा सकता, इसलिए ‘ॐ’ और स्फोट अभिन्न है। फिर यह स्फोट इस व्यक्त जगत का सूक्ष्मतम अंश होने के कारण ईश्वर के अत्यन्त निकटवर्ती है, तथा ईश्वरीय ज्ञान की प्रथम अभिव्यक्ति है। इसलिए ‘ॐ’ ही ईश्वर का सच्चा वाचक है।

मंत्र क्या है? :

अतएव हम देखते हैं कि ओम् का अर्थ कितना गहरा और व्यापक है। हमारे आध्यात्मिक जीवन में आत्मसाक्षात्कार के सहायक के रूप में जप और ध्यान में प्रयुक्त ओम् के ज्ञानदायक पक्ष को समझना आवश्यक है। ओम् सामान्यतः अखण्ड, अनन्त, निर्गुण, निराकार ब्रह्म के प्रतीक के रूप में लिया जाता है, लेकिन उसका उपयोग किसी साकार ईश्वरीय विग्रह के साथ भी किया जा सकता है। वस्तुतः यह इतना पवित्र माना जाता है कि उसका प्रयोग सभी धार्मिक अनुष्ठानों और स्तोत्रादि में किया जाता है। परन्तु प्रायः ईश्वर के प्रत्येक साकार रूप का अपना एक विशिष्ट नाम तथा वाचक शब्द और कभी-कभी एक गुह्य अक्षर होता है, जो ‘बीज’ कहलाता है। इस विषय में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं :

और जिस प्रकार अपूर्ण जीवात्मागण एकमेव अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म का चिंतन विशेष-विशेष भाव से विशेष-विशेष गुणों से युक्त रूप में ही कर सकते हैं, उसी प्रकार उसके देह रूप इस अखिल ब्रह्माण्ड का चिंतन भी साधक के मनोभाव के अनुसार विभिन्न रूप से करना पड़ता है। उपासक के मन का दिशा-निर्धारण तत्त्वों की प्रबलता के अनुसार होता है। परिणामतः एक ही ब्रह्म भिन्न-भिन्न रूप में भिन्न-भिन्न गुणों की प्रधानता से युक्त दीख पड़ता है, और वही एक विश्व विभिन्न रूपों में प्रतिभास होता है। जिस प्रकार अल्पतम विशिष्टीकृत तथा सार्वभौमिक वाचक शब्द ‘ॐ’ के सम्बन्ध में, वाच्य और वाचक परस्पर समवायी रूप से सम्बद्ध है, उसी प्रकार

वाच्य और वाचक का अविच्छिन्न सम्बन्ध ईश्वर और विश्व के विभिन्न खण्ड भावों पर भी लागू है। अतएव उनमें से प्रत्येक का एक विशिष्ट वाचक शब्द होना आवश्यक है। ये वाचक शब्द ऋषियों की गम्भीरतम आध्यात्मिक अनुभूति से उत्पन्न हुए हैं, और वे ईश्वर तथा विश्व के जिन विशेष-विशेष खण्ड-भावों के वाचक हैं, उन विशेष भावों को यथासंभव प्रकाशित करते हैं। जिस प्रकार 'ॐ' अखण्ड ब्रह्म का वाचक है, उसी प्रकार अन्यान्य मंत्र भी उसी परम पुरुष के खण्ड-खण्ड भावों का वाचक है। ये सभी ईश्वर के ध्यान और सत्य-ज्ञान प्राप्ति में सहायक हैं।

संस्कृत का 'शब्द' ध्वनि और शब्द दोनों का सूचक है। वार्तालाप के समय हम 'वैखरी' नामक शब्द के स्थूल रूप को ही सुनते हैं। यह जिब्हा, स्वरतंत्री आदि की क्रिया से पैदा होता है। इसके पीछे चिन्तनक्रिया के द्वारा उत्पन्न होने वाला शब्द है। यह 'मध्यम' वाक है। विचार पुनः 'पश्यन्ती' नामक और भी सूक्ष्मतर प्रक्रिया का परिणाम है और जो स्वयं 'परा' नामक अव्यक्त शब्द ब्रह्म से उत्पन्न होती है। अतः परा, पश्यन्ती और मध्यम से होकर वैखरी तक मानव के मनोराज्य का विस्तार है। हम अपने अन्तर्जगत के बारे में कितना कम सोचते हैं? हम कितनी लापरवाही से सोचते और बोलते हैं? चिंतन एक सक्रिय प्रक्रिया है, जिसका उद्द्वय सूक्ष्म अव्यक्त आदिकारण से होता है। अशुभ चिंतन का प्रभाव गहरा होता है और वह हमारे समग्र देह मन को प्रभावित करता है। इसी तरह शुभ चिंतन हमारे व्यक्तित्व के गहनतर स्तरों को भी शुभ बनाता है।

सामान्य चिंतन में हम मन के आध्यात्मिक धरातल के विषय में अनभिज्ञ रहते हैं। लेकिन मंत्र कहे जाने वाले विशेष विचार-संकेतों के द्वारा उस मौलिक स्तर तक पहुँचा जा सकता है। मंत्र के जप तथा उसके अर्थ की भावना से हम चेतना के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर स्तरों पर पहुँचकर उच्च से उच्चतर आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्राप्त कर धन्य हो सकते हैं। ठीक से जप करने से जड़ प्रतीत

होने वाले शब्द जीवन्त हो महान् शक्ति सम्पन्न हो जाते हैं। प्रत्येक मंत्र में यह शक्ति (मंत्र-चैतन्य) निहित रहता है। जब उच्च आध्यात्मिक पुरुष मंत्र का जप करता है, तो उसमें यह शक्ति संचारित हो जाती है और वह चैतन्य हो उठता है। जब वे यह मंत्र शिष्य को प्रदान करते हैं, तो यह शक्ति भी उसमें संचरीत हो जाती है। विधिपूर्वक साधना करने वाले तथा पवित्र जीवन यापन करने वाले ही मंत्र की शक्ति का अनुभव कर सकते हैं।

मंत्र का शाब्दिक अर्थ है : "जो मनन द्वारा जीव का त्राण करे" (मननात् त्रायते इति)। मन्द बुद्धि वालों के लिये मंत्र केवल शब्द अथवा संकेत-मात्र है, लेकिन उच्च साधक की दृष्टि में वह गंभीर आध्यात्मिक अनुभूति प्रदान करने वाला महान् शक्तिसम्पन्न घनीभूत विचार है। मंत्र के यथायथ जप से उच्चतम ज्ञानालोक और मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। शब्द का अनुसरण करते हुए योगी साकार ईश्वर का दिव्य दर्शन प्राप्त करता है और उसके बाद समस्त शब्दों का अतिक्रमण कर परमात्मा तक पहुँचता है।

मंत्र विभिन्न प्रकार के हैं। गायत्री मंत्र अति प्राचीन और प्रसिद्ध मंत्रों में से एक है। "नमः शिवाय" शिवजी का सबसे विख्यात मंत्र है। "नमो नारायणाय" विष्णु का प्रसिद्ध मंत्र है। "हरे राम हरे राम" आदि तथा "श्रीराम जय राम जय राम" का जप लाखों हिन्दू करते हैं। उक्त सभी मंत्र असंख्य संतों के जीवन और अनुभूतियों से सम्बन्धित रहे हैं। विधिपूर्वक जप करने से प्रत्येक मंत्र साधक में एक विशेष प्रकार के स्पन्दनों को पैदा करता है, जिससे अन्ततोगत्वा ध्येय देवता का दर्शन प्राप्त होता है। तान्त्रिक परम्परा में मंत्रों को सर्वसाधारण को नहीं बताया जाता। गुरु से प्राप्त मंत्र को शिष्य गुप्त रखता है और अपने निकटतम सम्बन्धी को भी नहीं बताता। प्रत्येक मंत्र में "बीज" नामक एक विशेष अक्षर होता है, जो तत्सम्बन्धित देवता की शक्ति का प्रतीक होता है। ऐसी मान्यता है कि बीज से देवता की सृजनात्मक शक्ति हमें जाग्रत होती है।

(क्रमशः)

जागरण और आचरण

- कृपाकांक्षी

जागरण और आचरण शब्द एक दूसरे से जुड़े हुए शब्द हैं। आचरण जागरण की ओर अग्रसर करता है। लेकिन जागरण होने पर आचरण गौण भी हो जाता है। फिर उस व्यक्ति के लिये स्वयं के लिये उक्त आचरण का कोई महत्व नहीं रहता। लेकिन पीछे चलने वालों के लिये महत्व निश्चित ही बना रहता है। अर्थ की गहराई में जाएँ तो ये शब्द कहीं-कहीं विलोमार्थी भी लगते हैं। आचरण जहाँ बांधता है वहीं जागरण मुक्त कर देता है। आचरण एक बंधन है जो जागरण को संभव बनाता है, वहीं जागरण वह मुक्ति है जो सभी प्रकार के बंधनों को क्षीण कर उनकी आवश्यकता को निःशेष कर देता है।

आचरण वास्तव में तो एक व्यवस्था का नाम होता है। समाज में कैसे रहना है, कैसे उठना-बैठना है, कैसा चाल-चलन रखना है, कैसा रहन-सहन रखना है, क्या खाना व क्या पहनना है, किस प्रक्रिया का पालन करना है, किसका अनुसरण करना है, किसके अनुसरण से बचना है, क्या नैतिक है, क्या अनैतिक है यह सब आचरण का विषय है। इस प्रकार आचरण समाज व्यवस्था का नाम है। यह स्वतः स्फूर्त नहीं होता बल्कि सीखा हुआ होता है। कुछ हद तक समाज द्वारा सौंपा हुआ होता है। आचरण में वह सब शामिल होता है जो व्यक्ति संसार को प्रसन्न करने के लिये करता है। संसार जैसा चाहता है वैसा करता है, संसार जैसा करता है वैसा करता है। इस प्रकार आचरण अच्छा और बुरा दोनों तरह का होता है। लेकिन अच्छा हो चाहे बुरा, वस्तुतः आचरण एक बंधन ही होता है।

जागरण सभी प्रकार के बंधनों से मुक्ति का अहसास है। जागरण होने के बाद किसी विधि निषेध की आवश्यकता नहीं रहती। जाग्रत व्यक्ति जो भी करता है, किसी नैतिकता के दबाव में नहीं करता, किसी से सीख कर नहीं करता, किसी का अनुसरण नहीं करता बल्कि, स्वतः स्फूर्त करता है। और अधिक गहरे दृष्टिकोण से देखें तो आचरण समाज व्यवस्था है तो जागरण धर्म है।

समाज व्यवस्था धर्म नहीं होती बल्कि धर्म की ओर बढ़ने में सहायक होती है। अतः जागरण से पहले धर्म के नाम पर जो कुछ किया जाता है वह धर्म की ओर बढ़ने वाला आचरण ही होता है। इस प्रकार आचरण तब तक आवश्यक होता है जब तक कि जागरण न हो जाए और जागरण के बाद आचरण उस जाग्रत व्यक्ति के स्वयं के लिये निरुपयोगी हो जाता है। ऐसे में जब तक जागरण न आये तब तक आचरण आवश्यक होता है। इसीलिए व्यक्ति सामाजिक व्यवस्था को अपनाता है, विधि-निषेध को स्वीकार करता है, नैतिकता के बंधन स्वीकार करता है, जागरण को प्राप्त लोगों की जागरण तक की यात्रा के आचरण को सीखने का प्रयास करता है। इस प्रकार जागरण के लिये आचरण आवश्यक है लेकिन साथ ही यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि वह जागरण नहीं है। जागरण होने पर धर्म की स्थापना होती है, हृदयस्थ परमेश्वर का अनावरण होता है लेकिन उससे पहले समाज व्यवस्था में निर्दिष्ट आचरण की महत्ता बनी रहती है।

जब तक व्यक्ति आचरण की प्रक्रिया में है उसके लिये प्रक्रियागत आचरण का निर्वहन आवश्यक है। यदि कोई व्यक्ति किसी जाग्रत व्यक्ति की नकल करने के चक्कर में स्वयं के जागरण से पहले ही आचरण को छोड़ देवे तो निश्चित रूप से ठहराव को प्राप्त होगा। सागर की ओर नई चलने वाली नदी यदि सागर तक पहुँचने तक बहती रहती है तब तो निश्चित रूप से सागर को प्राप्त होती है, लेकिन यदि वह बीच में ही अवरुद्ध हो जावे तो निश्चित रूप से ठहराव को ही प्राप्त होती है। अतः जागरण यदि सागर से मिलन है तो आचरण उस नदी का प्रवाह है। प्रवाह के अवरुद्ध होने पर मिलना असंभव है। इस प्रकार जागरण वह घटना है जो आचरण नामक प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप घटित होती है। परिणाम से पहले प्रक्रिया को रोकना परिणाम को अपनी पहुँच से दूर धकेलना ही होता है।

(शेष पृष्ठ 20 पर)

दस्तावेज

- स्वामी सच्चिदानन्द जी

वास्तव में विवाह संस्कार धार्मिक है। लगभग सभी धर्मों में विवाह विधिपूर्वक होता है। विवाह समारोह पवित्र माना जाता है। मगर वैवाहित जीवन सामाजिक दृष्टि से कई प्रकार के होते हैं। एक ही धर्म होते हुए भी और एक ही प्रकार की विवाह की रस्में होती हो, फिर भी सामाजिक रूप भिन्न-भिन्न होते हैं। सामाजिक रूप मुख्यतः चार हैं - 1. कुमकुम कन्या, 2. कन्या विक्रय, 3. वर विक्रय, 4. सर्शर्त (शर्ती) विवाह।

1. कुमकुम कन्या का अर्थ यह है कि वर-कन्या दोनों पक्षों की ओर से बिना कुछ लेन-देन के सादगी से विवाह कर देना।

2. कन्या विक्रय अर्थात् कन्याओं की कमी होने से कन्या के पिता को निश्चित की गई रकम वर पक्ष से मिले तब ही विवाह हो सके।

3. वर विक्रय का अर्थ है- जब कन्याओं की संख्या बढ़ जाय और लड़के कम हों तब कन्या पक्ष की ओर से वर पक्ष को निर्धारित रकम या गहने देना पड़े। इसको वर विक्रय या पैठन भी कहते हैं।

4. सर्शर्त (शर्ती) विवाह में कन्या के बदले में कन्या देनी पड़े। कन्या दो तब ही कन्या मिलेगी वरना कंवारा रहो।

इनके अलावा भी विश्व में कई धर्मों व जातियों में अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न सामाजिक रीतियाँ-रस्में होती हैं। वैवाहिक जीवन जीने के लिये और उसको सफल बनाने के लिये सामाजिक रस्में पूरी करनी होती हैं। यदि उनमें कमी या अधूरापन रह जाय तो उसका विपरीत असर वैवाहिक जीवन पर पड़ सकता है।

एक राजपूत युवक का विवाह एक हजार रुपये में निश्चित हुआ था। उस जमाने का एक हजार, आज का एक लाख रुपया माना जाय। कन्या की आयु हो गई थी अतः कन्या के पिता ने लड़के को पत्र लिखा कि- 'एक

हजार रुपए लेकर ज्येष्ठी दूज को आ जाओ। यदि चूक गए तो कन्या और किसी को दे दूंगा।'

राजपूत युवक पर जैसे गगन टूट पड़ा। 'हजार रुपए कहाँ से लाऊँ?' उस समय यदि किसी के पास रानी छाप का एक रुपया होता तब भी अपने आपको धन्य मानता। राजपूत युवक बड़ी दुविधा में पड़ गया। इसमें आर्थिक व सामाजिक दोनों प्रकार की समस्याएँ थी। यदि निश्चित समय पर हजार रुपये लेकर लड़का नहीं जा पाए तो कन्या का विवाह किसी और लड़के से कर दिया जाता। कन्या किसी और जगह जाए, मतलब नाक कट गया। हमारी सामाजिक जीवन की रीतियाँ तनाव बढ़ा देने वाली हैं। पश्चिम के देशों में ऐसा नहीं होता। युवक के पास कुछ था ही नहीं जिसे गिरवी रखकर रुपए मिल सके। वह अत्यन्त चिंता में पड़ गया। आखिर उसकी नजर गाँव के बनिये की तरफ गई। वह ब्याज खाऊ बनिया था। सोचा- 'सेठ से ब्याज पर पैसे माँगूँ'

युवक बनिये के पास गया। बहुत गिड़गिड़ाया। गरज थी न। गरजवान को अक्ल नहीं होती। स्वमान भी नहीं होता, दरिद्र संसारी जन बिना गरज के शायद ही कोई हो। उसको कदम-कदम पर माँगते फिन्ने की बेबसी होती है। वह गरज के मारे गधे को भी बाप कहेगा।

गरजवान को पहचान जाने की क्षमता वाला बनिया कहलाता है। बगुला जिस तरह तन्मय होकर मछली की राह देखता खड़ा रहता है और अवसर पाते ही चोंच मार कर मछली पकड़ लेता है, उसी तरह गाँव का बनिया भी पूरे गाँव के सभी लोगों की ओर नजर करके बैठा ही होता है। देर-सवेर गरज तो होगी ही। बस अवसर पाते ही मछली चोंच में आ जानी चाहिए। चोंच में पकड़ी गई मछली छटक न जाय, उसकी कला भी उसको आती है।

बहुत अनुनय के बाद बनिये ने राजपूत युवक को

एक हजार रुपए दिए तो सही मगर लिखित में लिया। वर्णिक सूत्र ऐसा कि ‘लिखा पढ़ा जाया’ बनिये ने लिखित ले लिया कि ‘जब तक हजार रुपए वापस नहीं लोटाऊँगा, तब तक हेने वाली पत्नी को बहन जैसा समझूँगा।’

ऐसी कड़ी शर्त कैसे मानी जाए? मगर गरज थी। और कोई चारा ही नहीं था। अतः युवक ने कागज पर सही कर दी। बनिये को विश्वास था कि राजपूत चाहे गरीब हो, वचन का पक्का ही होता है। वह कभी भी वचन भंग नहीं करेगा। वचन पालन प्रतिष्ठा का मूलाधार माना जाता है।

हजार रुपये लेकर राजपूत अपनी मंगेतर के पिता के पास गया और बोला—‘लीजिए जी! गिन लो, एक हजार पूरे हैं।’ लड़की का पिता तो देखते ही रह गया। उसको विश्वास ही नहीं था कि ऐसा होगा। यह कंगाल हजार रुपए कहाँ से लाएगा? और कंगाल को कौन जंवाई बनाएगा? एक श्रीमंत के लड़के को कन्या देकर पांच हजार रुपए पाने का उसका सपना सपना ही रह गया। ज्येष्ठी दूज के दिन उस कंगाल व कर्जदार को कन्या देनी पड़ी। समाज का भी तो दबाव होता है न, कहाँ जाए?

कन्या, जिसका नाम था राजबाई, खुश हो गई। उसको वह राजपूत युवक भा गया था। वह राजपूतानी थी। उस राजपूत को समर्पित हो गई। मगर कंजूस पिता ही बीच में आकर रंग में भंग कर रहा था। यदि उसका आदमी हजार रुपए नहीं लाता तो पिताजी दूसरे से विवाह करवा देते तो राजबाई मौन होकर आत्महत्या कर लेती। मगर आखिरी घड़ी में रुपये का मेल बैठ गया और बिगड़ने जा रही बाजी सुधर गई। हमने सामाजिक रिवाज ऐसे बनाए हैं कि कड़यों की जीवन बाजी बिगड़ ही जावे।

राजबाई पीहर से विदा होकर ससुराल आई। ससुराल में वह राजपूत युवक अकेला ही था। माता-पिता चल बसे थे। बंट का घर शमशान जैसा ही होता है। राजबाई ने चारों ओर गंदगी, मिट्टी देखी। आते ही सफाई शुरू कर दी। कामकाजी व्यक्ति जहाँ जाए वहाँ तुरन्त काम ढूँढ लेगा। जबकि कामचोर जहाँ जाएगा वहाँ

पहले पथारी (विश्राम स्थल) ढूँढेगा और आराम करने लगेगा। कामकाजी-उद्यमी व्यक्ति सबको प्यारा लगता है और कामचोर सबको अप्रिय लगता है। सामूहिक जीवन में साथी लोगों का मन जीत लेना, बहुत बड़ी सिद्धि मानी जाती है। काम करके ही मन जीता जाता है।

राजबाई ने राजपूत युवक का कमरा एक दम साफ सुथरा कर दिया। बहू को गृहलक्ष्मी कहते हैं, वह इसलिए कि वह घर को साफ सुथरा रखती है। स्वच्छता ही लक्ष्मी। फूहड़ बहू दरिद्रता लाएगी।

राजबाई ने बहुत ही भाव से खाना बनाया। नव वधू का नाप उसके हाथ से बनी रसोई से निकलता है। अंगुलियाँ चाटकर खा ले तो समझ लेना कि घर में अन्नपूर्णा आई है। सबके घर में लक्ष्मी और अन्नपूर्णा नहीं आती। आए तो बेड़ा पार हो जाय। उसके पति को कभी वैराग्य आएगी ही नहीं। वह कभी भी गृहत्याग करके संन्यासी बनने की सोचेगा ही नहीं। वैरागी बनकर गृह त्यागने वाले अधिकतर पत्नी-दुखिया ही होते हैं। और क्या करें बेचारे?

रात हुई। आज तो सुहागरात थी। सुहागरात का आनन्द वही ले सकता है जिसने संयम पाल रखा हो। संयम को कई बार निलाम कर दिया हो उसकी सुहागरात आनन्द वाली नहीं होती। राजबाई ने अपने हाथों से पलंग सजाया। पतिदेव की राह देखती घूंघट खींचकर बैठी है। हृदयकी धड़कन बढ़ गई है। क्या होगा, उसकी चिन्ता हो रही है। इतने में उसका पति आया। उसने राजबाई का स्पर्श भी नहीं किया। पलंग के बीच नंगी तलवार रखकर सो गया। पत्नी धन भूखी भी न हो मगर प्रेम भूखी भी न हो, ऐसा नहीं होता और यदि ऐसा होता है तो समझ लेना चाहिए कि दाल में कुछ काला है।

सारी रात दोनों एक ही पलंग पर सोये पर बीच में तलवार रखकर। एक दूसरे का स्पर्श भी नहीं किया। पतित हो जाने के डर से जो बाबा स्त्री का मुँह भी नहीं

देखता, उससे हजार गुना संयमी राजपूत युवक था। राजबाई ने कुल मर्यादा एवं शर्म के बन्धन को मर्यादा में बाँध दिया था। निर्लज्ज व कुलटा स्त्री को मर्यादा से क्या लेना-देना? वह स्वयं सभी मर्यादाएँ तोड़ देती।

सुबह हुई। सुहागरात बीत गई। कभी भी किसी ने भी अनुभव न की हो, ऐसी सुहागरात मनाई गई। तलवार की धार पर रात बीती थी। इससे बड़े योगी और कौन हो सकते हैं? दूसरी रात। तीसरी रात। चौथी रात भी यों ही बीत गई। राजबाई को वहम आया कि पति मर्द नहीं होगा। मर्दानगी इतनी सारी मर्यादा में नहीं रह सकती। पांचवीं सुबह में राजबाई ने बीच में तलवार रखने का राज पूछा। अब वह बोलने लगी थी। पहले के दिनों में नववधु बिना बोले रहती। पर धीरे-धीरे वह बोलने लगती और दो चार वर्ष में तो एक हाथ जितनी लम्बी जीभ हो जाती। फिर तो घर में सब चाहते कि वह चुप रहे तो अच्छा। लम्बी हुड़ जीभ फिर शायद ही नाटी होती। बेचारे परिवार जन लपलपाती जीभ से बचने के लिये घर में कम आते।

राजबाई ने तलवार का राज पूछा तो राजपूत ने बनिये का वह दस्तावेज दिखाया। उसमें लिखा था कि जब तक एक हजार रुपए लौटा न दे तब तक पत्नी से माँ-बहन जैसा व्यवहार करना। राजबाई समझ गई। राजपूत नेकी-टेकी वाला है। वरना बनिया कहाँ देखने को आने वाला था। नेकी-टेकी की कदर स्वयं नेकी-टेकी वाला व्यक्ति ही कर सकता है। राजबाई इस विषय में राजपूत से सवागुनी थी। बोली-‘कोई बात नहीं, मैं आपकी प्रतिज्ञा नहीं तुड़वाऊँगी। पूरा सहयोग करूँगी।’ बिना पत्नी के सहयोग के पति संयमी नहीं रह सकता। पत्नी चाहे तो एक क्षण में पति को चलित कर सके। पुरुष के संयम पर एक कोड़ी जितना भी विश्वास नहीं हो सकता। स्त्री के सहयोग से ही पुरुष संयमी रह सकता है।

दिन बीतने लगे। हजार रुपए कहाँ से लाएँ? बनिया भी पक्का निकला। वह जानता था कि यह नियम

(शर्त) ही ऐसा है कि राजपूत को जल्दी चुकाना पड़ेगा। वरना अगले जन्म में रुपए देगा। आखिर राजबाई ने मार्ग निकाला। दोनों ने पुरुष भेष धारण कर, शस्त्र सजकर किसी दूर के देश में चले जाने और नौकरी-चाकरी करके, हजार रुपए कमाकर गाँव में वापस आने का निश्चय किया। एक रात को दोनों निकल गए। राजबाई अब पुरुष भेष में थी। मर्द की मर्दानगी से स्त्री की मर्दानगी अधिक चमकती है। एक राजा के दरबार में आ पहुँचे। राजा के अंग रक्षक रूप में दोनों को रख लिया गया। जीविका मिल जाना भगवान मिल गया बराबर होता है। ईश्वर की खोज में निकले भक्तों से रोजी की तलाश में दर-दर भटकते भूखे जनों की तत्परता बहुत ज्यादा तीव्र होती है।

एक बार शिकार पर गये हुए राजा पर सिंह झपटा। अभी राजा सिंह का कौर हो जाएगा, ऐसा लगाने पर सभी के जीव ऊँचे हो गए। उतने में अंगरक्षक राजबाई के भाले ने सिंह का काम तमाम कर दिया। राजा बच गए। प्रसन्न होकर दोनों को कदर के रूप में राजा ने अपने शयन खण्ड की चौकी सौंप दी। अवसर पाते ही पराक्रम दिखाने वाले पुरुषों की कदरदान लोग कदर करते ही हैं।

एक बार श्रावण माह की मेघाच्छन्न रात को जोरदार बरसात हो रही थी। राजा-रानी सो रहे थे। दोनों राजपूत चौकीदारी कर रहे थे। रात का एकान्त व बरसाती चातावरण, दोनों ने मिलकर स्त्री को स्त्री व पुरुष को पुरुष बना दिया। ऊपर का भेष चाहे जैसा हो, अन्तर के भाव तो अवसर पाते ही जाग उठते हैं। आन्तरिक भावों को लम्बे समय तक दबाया नहीं जा सकता। राजबाई स्त्री बन गई, वह पति राजपूत के पास गई। स्त्री का मर्यादा से ज्यादा पुरुष के पास जाना पुरुष के लिये संदेश बन जाता है, जिसकी ऋषि लोग भी अवज्ञा नहीं कर पाते। राजपूत (पति) भी राजबाई की समीपता को बांहों में थाम लेने को तैयार हो गया। बीच में तलवार थी नहीं और तलवार भी हर दिन काम नहीं

करती। पर आखिरी घड़ी में आकाश में ऐसे जोर से दोनों को आखिरी क्षण में डिगने से बचा लिया था, पर दोनों के मन पिघल गये थे। पिघल गया मन पिघली हुई बात करेगा। मन की कठोरता चली जाय तो मन हीला हो जाता है। हीला मन बोझ नहीं झेल सकता, क्योंकि वह सहलियत पर सीधा नहीं रह सकता, टेढ़ा हो जाता है। कब किसका मन टेढ़ा हो जाय, कोई विश्वास नहीं। कठोर तपस्वी विश्वामित्र को मेनकामय बनने में देर न लगी। संयम केवल स्वपुरुषार्थ का विषय नहीं, वह ईश्वर कृपा का भी विषय है। कड़ाका होना, वह ईश्वर कृपा ही थी जिसने आखिरी सीढ़ी पर पहुँचे हुओं को होश में ला दिया था।

श्रावणी बरसात के साथ राजबाई की आँखों से भी बरसात होने लगी थी। स्त्री की संवेदना आँसू बनकर बह निकलती है। पुरुष जल्दी नहीं रोता। उसके आँसू भीतर में ही सूख जाते हैं।

उधर रानी को वहम हो गया। इन दोनों में एक स्त्री है। स्त्री स्त्री को तुरन्त पहचान लेती है। रानी स्त्री को पहचान गई। सुबह हुई। रानी को भेद उकेलने की चटपटी हुई। स्त्री का अर्थ ही चटपटी। उसको सारे गाँव की चटपटी होती है। शायद ही कोई स्त्री अन्तर्मुखी होगी। हम भले और अपना घर भला, ऐसी स्त्री शायद ही कोई होती है। ज्यादातर महिलाएँ तो हम भले और सारा गाँव भले की खबर पाने को कुएं से लेकर मंदिरों तक चक्कर लगाती फिरती रहती हैं। सधावा स्त्री अपने पति समक्ष बात करे बिना नहीं रह सकती। पत्नी से पति पूरे गाँव के

समाचार, सही या गलत, सुनता रहता है। यदि वह छिछले मन का होगा तो उन बातों में वह बह चलेगा। जो बह चलता है वह लड़ मरता है। मगर जो छिछला नहीं होता वह वैसी बातों में भी अड़िग रहेगा। बहेगा नहीं। वह बच जाएगा। उसमें भी अति प्रेमी स्त्री पूरे दिन का भरा हुआ पति के आगे उड़ेल देगी। उसमें पूरे गाँव का कचरा भी हो और सोना भी हो। कचरा और सोने के बीच के भेद को जो समझ नहीं सके, वह पुरुष स्वयं कचरा बन जाएगा। भेद जाने और पचाए, वह सोना बन जाएगा।

राजा-रानी ने दोनों राजपूतों के पीछे अपने गुपचरों को लगा दिया। थोड़े ही दिनों में ही सही भेद खुल गया। हवा के बिना शायद प्राणी जिन्दा रहे भी, मगर बिना गुपचरों के राजा जी नहीं सकता।

दोनों को राजा के समक्ष खड़ा कर दिया गया। पुरुष भेप में पत्नी को साथ में रखने का कारण पूछा तो राजपूत ने बनिया का वह दस्तावेज दिखाया। ‘हमने हमारा यौवन गिरवी रखा है। जब तक हजार रुपए चुकाते नहीं तब तक यौवन हराम किया है।’ राजपूत ने स्पष्टता की। तुरन्त राजा रानी ने एक हजार रुपए का थेला तैयार करके दिया। साथ में कपड़े, गहने तथा एक हजार रुपए और नगद दिए।

अपने गाँव पहुँचकर राजपूत ने बनिये को एक हजार रुपए दे दिए। गिरवी रखी जमीन भी वापस ले ली। ब्रत पूरा हुआ। पुनः वही घर और वही बिश्वैना, पर इस बार बीच में तलवार न थी। वह तो दीवार पर थी और राजपूत व राजपूतानी की सुहागरात की चौकीदारी कर रही थी कि कहीं कोई बनिया बाधा डालने न आ जाय।

*

श्वास की क्रिया के समान हमारे चरित्र में एक ऐसी सहज क्षमता होनी चाहिए, जिसके बल पर जो प्राप्य है वह अनायास ही ग्रहण करले तथा जो त्याज्य हो, वह बिना क्षोभ के त्याग सके।

– रवीन्द्रनाथ टैगोर

विचार-सत्रिता

(षष्ठिंश लहरी)

- विचारक

विचारबान का लक्ष्य और दृष्टि केवल सत्, चित्, आनन्द और एक पर होनी चाहिए। जो यथार्थ देखता है, वह ही सही देखता है। हमें जो 'है' वही देखना है। जो वास्तव में नहीं और भ्रांतिस्वरूप है की तरह दिखता है उसको महत्व नहीं देना है, उस पर दृष्टि नहीं रखनी है, उसका चिन्तन और मनन भी नहीं करना है। स्वर्ण से निर्मित आभूषणों को जब हम देखते हैं तो पहले सोना दिखता है बाद में आभूषण की आकृति पर ध्यान जाता है। ऐसे ही प्रकृतिजन्य जो दृश्य हैं उसमें भी हमें उसके अधीष्ठान स्वरूप परमात्मा को देखना है, बाद में पदार्थ के नाम और रूप को। गुप्तसागर के शान्ति मंत्र में आया है-

**अस्ति भाति प्रिय सिन्धु में, नाम रूप जंगल।
जिंहि लखि निज आत्म तत्व, क्वै तत्काल निहाल॥**

सत्, चित्, आनन्द और एक ये चार विशेषण ब्रह्म के कहे गए हैं तथा माया के इनसे विपरीत चार विशेषण हैं-असत्, जड़, दुःख और द्वेत। माया के पहले दो विशेषण असत् और जड़ को ब्रह्म के दो विशेषणों सत् और चित् ने ढक दिया है। उधर ब्रह्म के दो अन्तिम विशेषण आनन्द और एक को माया के अन्तिम दोनों विशेषणों दुःख और द्वेत ने ढक रखा है। इसीलिए तो प्रकृति की असत्यता हमको सत् रूप और जड़ता प्रकाश रूप प्रतीत हो रही है। इसी कारण हमको जगत् सत्य और प्रतीति रूप भासित हो रहा है। तथा इसी प्रकार हमारी आत्मा का आनन्द पना और एकपना भी हमको भान नहीं हो रहा है और हम अपने आपको दुःखी और परमात्मा को हमारे से कहीं अलग मान रहे हैं। इसी बात को सुन्दरदासजी महाराज ने दोहे के माध्यम से समझाने की चेष्टा की है-

**सुन्दर है सो है सदा, नहीं सो सुन्दर नाय।
सुन्दर है सो दीखे नहीं, दीखै सो सुन्दर नाय॥**
सामान्यतया हमारी दोष दृष्टि के कारण हम व्यक्ति

में दोष पहले देखते हैं तथा अच्छाई या तो देखते ही नहीं और देखते हैं तो बाद में। दूसरे के दोषों को देखने और फिर उसकी निन्दापूर्वक चर्चा करने के लिये ही क्या हमारे पास समय है? दूसरे के दोषों का चिंतन मनन और सम्भाषण करके हम उसके दोषों को अपने में आमन्त्रित करने का काम करते हैं। यदि दोष देखने की इतनी ज्यादा लालसा है तो अपने भीतर बैठे दोषों को देखें तथा दूसरे में ही देखना है तो उसके सदृश्यों को देखो और उनका बखान करो ताकि वे सदृश्य भी हमारे भीतर दर्ज हो सकें।

वासुदेव: सर्वम् की भावना से देखें तो सब परमात्म रूप ही है इसलिए फिर निर्दोष परमात्मा में दोष कहाँ से आ गया। गीता कहती है-ब्राह्मण में, गाय में, इन्सान में, कुत्ते और चाण्डाल में सब में भगवान का निवास है। सब में भगवान हैं तो हमें सबमें भगवदीय दर्शन करना चाहिए न कि मायिक देह का। राग, द्वेष, मद, मत्सरता, द्यूठ, कपट, व्यभिचार आदि समस्त दोष प्रकृति-जन्य हैं। आत्मा अविकारी और निर्दोष है।

यदि हमारी नजरों में कोई शराबी, कबाबी और फेरेबी है तो उस व्यक्ति से नहीं उसके आचरण से परहेज रखो। व्यक्ति से द्वेषता या विप्रमता नहीं रखनी है यदि हम उसके दुरुणों की चर्चा निन्दा के रूप में करेंगे तो सम्भवतया वे दुरुण हममें आने शुरू हो जाएंगे। दूसरे के भवन की गन्दगी को देखकर हमें अपना भवन बुहारना है। भगवान् श्रीकृष्णजी महाराज ने उद्धवजी से कहा-उद्धव मैं तुम्हें भगवत् प्राप्ति का सबसे सुगम साधन बताता हूँ कि “दूसरों में कभी भी दोष दृष्टि नहीं रखता वह मुझ परमात्मा को सहज ही पा जाता है।” आगे कहा कि-“मैं महादेव की सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि जो कभी भी दूसरों में दोष-दृष्टि नहीं रखता वह मुझ परमात्मा को सहज ही पा जाता है।”

हम दूसरों को प्रमाण-पत्र जारी करने में बहुत

जल्दबाजी करते हैं। बिना सोचे विचारे और कई बार तो उन्हें देखे बिना ही उस महापुरुष के बारे में दोपारोपण शुरू हो जाता है जो कि खुद के लिये बड़ा ही अहितकारी है। दूसरों का छिद्रान्वेषण करने की बजाय अपना अन्वेषण करना चाहिए कि मैं कहाँ और कैसा हूँ। ऐसा करने से जीवन की ऊँचाइयाँ बढ़ती हैं। मेरे पड़ोस में एक सज्जन रहते हैं जो ब्रत, तीर्थ और उपवास व दान आदि करते रहते हैं। भक्तमाल में से भक्तों की कहानियाँ व भगवान के गुणानुवाद करते रहते हैं। इतना होते हुए भी वर्तमान के साधु-सन्तों के प्रति उनकी दोष दृष्टि बनी रहती है। जीवन-मुक्त महात्माओं के प्रति भी दोषदृष्टि रखकर उनकी सदैव निन्दा किया करते हैं। एक बार तो वे किसी प्रसंग विशेष का कथन करते-करते स्वामी रामसुखदासजी में भी दोष बताने लगे। इस कारण से मैंने आजकल उनके पास उठना-बैठना बन्द ही कर दिया है। यह भी सही हो सकता है कि मैं भी उनमें दोष देखकर ही तो यह बात लिख रहा हूँ और उनकी निन्दा कर रहा हूँ। पर मैं यह भलीभाँति जानता हूँ कि उनके सान्निध्य से मुझे हानि अधिक और लाभ कम है। अतः मैं उनकी इस आदत से बचने के लिये आजकल परहेज ही रखता हूँ। पाठकगण मुझे क्षमा करेंगे कि ऐसा करना मेरी मजबूरी बन गई थी अतः मैंने उन महानुभाव से दूरी बना ली।

मेरा सोच यह है कि यदि हम छबेजी होकर दुबेजी का सान्निध्य करेंगे तो निश्चय ही चौबेजी बनकर आएंगे। अपने दो अच्छे सदागुण छोड़कर आएंगे। जगद्गुरु शंकराचार्य जी महाराज ने विवेक चूडामणि में स्पष्ट लिखा है कि जो व्यक्ति अपने हित में (उनके शब्दों में-स्वार्थ में) जो सावधान नहीं है अथवा अपने स्वार्थ में जो प्रमाद करता है वह सबसे बड़ा मूर्ख है। साधक को चाहिए कि वह अपने निज-स्वार्थ को प्राथमिकता देवे। उसका सर्वोपरि स्वार्थ निज कल्याण में है। अतः अपने कल्याण स्वरूप स्थिति में आने में जो बाधकता हो उसे सर्वथा त्याग दे ताकि अपनी मंजिल सुगमता से पा सके।

स्वःकल्याणार्थ अपनी निजता में टिकने के लिये साधक को परनिन्दा व परदोष से सर्वथा परहेज रखना होगा। यह परहेज ही उस आत्मविद्या रूपी औषधि से परमात्मप्राप्ति की अनुभूति की सुगमता है। औषधि चाहे कितनी भी कीमती क्यों न हो, यदि उसका परहेज नहीं है तो वह औषधि कारगर सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिए जन्म मृत्यु की संसृति रूप जो बीमारी है उससे मुक्ति पाने के लिये ब्रह्म-विद्या ही एकमात्र उचित औषधि है। उस औषधि का परहेज यही है कि हम किसी में भी दोष दृष्टि न रखते हुए वासुदेवः सर्वम् की भावना रखें। इसी में कल्याण है।

पृष्ठ 14 का शेष

जागरण और आचरण

आँ आचरण को अपनाएँ जिसे भगवान श्री कृष्ण ने गीता में विधि कहकर सम्बोधित किया है। ईश्वरीय कृपा से हमें भी इसी प्रकार की प्रक्रिया पूज्य तनसिंहजी ने उपलब्ध करवाई है जो जागरण तक की यात्रा प्रशस्त करती है। जो मिलन की राह है, एकीकरण की राह है, योग की राह है और उस राह पर कोई कुछ कदम आगे है तो कोई कुछ कदम पीछे है। आवश्यक है कि हम आगे चलने वाले द्वारा उस स्थिति तक पहुँचने के लिए अपनाए गये आचरण का अनुसरण करें ताकि उसकी तरह जागरण के निकट पहुँच सकें। लेकिन यदि हमने उसकी स्थिति को प्राप्त

करने से पहले उसकी वर्तमान स्थिति के आचरण की नकल प्रारम्भ कर दी तो निश्चित रूप से ठहराव आएगा। इसलिए हमारी नजर आगे चलने वाले के वर्तमान की अपेक्षा उसके अतीत पर होनी चाहिए जिसके कारण वर्तमान घटित हो रहा है। और यदि हमारे जीवन में उस वर्तमान को घटित करवाना है तो उस अतीत का अनुसरण करना ही पड़ेगा। इसीलिए तो हमारे शास्त्र कहते हैं कि गुरु जो करते हैं वह नहीं करना चाहिए बल्कि गुरु जो कहते हैं, वह करना चाहिए क्योंकि वे अपने अतीत के अनुभवों का अनुसरण करने को ही कहते हैं।

गतांक से आगे

ગुજરात में सोलंकी कुल का शासन

संकलन कर्ता-गिरधारीसिंह डोभाड़ा

मूलराज द्वितीय का युवावस्था में ही अवसान हो गया था। वह अविवाहित था। उसके बाद उसका छोटा भाई भीमदेव द्वितीय राजगद्दी पर बैठा। ई.सं. 1178 में वह राजा हुआ। वह अजयपाल का छोटा पुत्र था। भीमदेव भी अपनी छोटी उम्र में ही सत्ता पर आया था। जब वह सत्ता में आया, उस समय उसका राज्य विस्तार कुमारपाल के समय में जितना था, उतना ही भीमदेव के समय में भी था। उसके अधीन मेवाड़, वागड़, मालवा का धार सहित कुछ प्रदेश, लाट, सौराष्ट्र और कच्छ आदि थे। भीमदेव ने सोलंकी राजाओं में सबसे अधिक समय, 63 वर्ष (ई.सं. 1178 से ई.सं. 1241) तक राज्य किया। उसके इतने लम्बे शासनकाल के दौरान उत्तर भारत और दक्षिण भारत में राजकीय स्थिति में महत्व के परिवर्तन हुए थे। गुजरात की सोलंकी सत्ता कमज़ोर होने लगी थी। भीमदेव को अपने राज्यकाल के दौरान चारों ओर अनेक दुश्मनों का सामना करना पड़ा था।

भीमदेव की छोटी उम्र का लाभ उठाकर होयसल राजा वीर बल्लाल द्वितीय, यादव राजा भिल्लम, शाकभरी के चाहमान राजा पृथ्वीराज तृतीय, मालवा के परमार राजा सुभट वर्मा आदि ने थोड़े-थोड़े समय पर गुजरात पर बारम्बार आक्रमण किए। इस प्रकार भीमदेव को प्रारम्भ से ही बलवान शत्रुओं का सामना करना पड़ा था। इसके अलावा उसकी इस विप्रम परिस्थिति का लाभ उठाकर उसके मंडलिक भी स्वतंत्र होने को तत्पर हुए। ऐसे विकट समय में अर्णोराज वाघेला ने भीमदेव को पूरी सहायता की। अर्णोराज वाघेला सोलंकी राजा कुमारपाल के समय से ही वफादार सामंत रहा था। अर्णोराज ने मेवाड़ के रणसिंह को युद्ध में मारा और वह स्वयं भी वीरगति को प्राप्त हुआ। अर्णोराज के बाद उसका पुत्र लवणप्रसाद वाघेला और पौत्र वीर धबल वाघेला ने भी भीमदेव की वफादारी पूर्वक सेवा की। उन्होंने अंत तक भीमदेव की रक्षा की और स्वयंशक्तिशाली होते हुए भी भीमदेव के सामंत बने रहे। अर्णोराज वाघेला सोलंकी की ही शाखा का था। यह वंश मूलराज प्रथम के

सौतेले भाई राकायत, जो कच्छ के जाडेजा राजा लाखो फूलाणी का भानजा था, से शुरू हुआ था और आनाक (अर्णोराज) के पिता धबल से वाघेला कहलाए। धबल कुमारपाल का मौसा था।

भीमदेव और होयसल :

होयसल राजा वीर बल्लाल वि.सं. 1173 में गद्दी पर बैठा था। उसने गुजरात पर आक्रमण की तैयारी की। भीमदेव ने अपने सामंतों, राजवीयों मालवा, लाट और चोल एवं गुजरात की सेना से बल्लाल का सामना किया। भीमदेव ने अपने राज्यकी दक्षिणी सीमा को सुरक्षित रखा। बल्लाल के आक्रमण से गुजरात को कोई हानि नहीं हुई।

भीमदेव और यादव :

यादव राजा भिल्लाल ने मालवा और चोल राजाओं को हराकर गुजरात पर आक्रमण किया। भिल्लाल और गुजरात के सोलंकी राजा के बीच युद्ध हुआ। यादव राजा भीमदेव गुजरात को हराकर मारवाड़ की ओर बढ़ा चाहता था, लेकिन नाडोल का चाहमान राजा केल्हण सैन्य लेकर भीमदेव की सहायतार्थ आ पहुँचा। दोनों की सेना ने मिलकर गुजरात की दक्षिणी सीमा पर ही भिल्लाल को हरा दिया। फलस्वरूप भिल्लाल को लौट जाना पड़ा। इस युद्ध में चाहमान राजा केल्हण ने बड़ी वीरता दिखाई।

भीमदेव और शाकभरी के चाहमान :

अजमेर की गद्दी पर सोमेश्वर के बाद उसका प्रतापी पुत्र पृथ्वीराज आया। वह बड़ा पराक्रमी था। सोलंकी राजा अजयपाल ने सोमेश्वर, जो उसका सामंत था पर स्वतंत्र होना चाहता था, को हराया था। सोमेश्वर ने अजयपाल को एक हाथी और सुवर्ण मंडपिका भेंट की थी। पृथ्वीराज ने इसका बदला लेने अजयपाल के पुत्र राजा भीमदेव को पराजित करने के लिये उस पर आक्रमण किया। भीमदेव की ओर से महामात्य जगदेव सेना लेकर गया। दोनों सेनाओं के बीच आबू के पास

युद्ध हुआ जिसमें गुजरात की सेना की पराजय हुई। महामात्य जगदेव पृथ्वीराज चौहाण के साथ संधि करके पाटण लौट आया। इस प्रकार पृथ्वीराज ने अपने पिता की अजयपाल से हार का बदला उसके पुत्र भीमदेव से लिया और भीमदेव को पृथ्वीराज से संधि करनी पड़ी।

मुसलमानों का आक्रमण :

शाकंभरी का पृथ्वीराज चाहमान जो बाद में दिल्ली का सम्राट बना था, उसने गजनवी के महमूद शाहबुद्दीन गौरी को कई बार पराजित करके पकड़ लिया था, लेकिन वह पृथ्वीराज से क्षमा माँग लेता था और वापस चला जाता था। ई.स. 1193 में बड़ी सेना लेकर गौरी पुनः चढ़ आया। पानीपत के मैदान में हुए इस युद्ध में पृथ्वीराज हार गया, पकड़ा गया और मारा गया। उसके बाद शाहबुद्दीन गौरी की सेना ने कन्नोज के गहड़वाल राजा जयचंद को भी पराजित करके अपना राज्य विस्तार वाराणसी तक फैला दिया। शाहबुद्दीन के गुलाम और सेनानायक कुतुबुद्दीन ऐबक, जो पंजाब का सूबेदार था, ने पृथ्वीराज के भाई हरिराज को हराकर अजमेर का राज्य अपने अधीन कर लिया। उसके बाद वह अजमेर से गुजरात की ओर बढ़ने लगा लेकिन गुजरात के राजा भीमदेव (द्वितीय) ने आबू की तलहटी में उसका सामना किया। आबू के राजा धारावर्षदेव और उसके भाई प्रहलादन देव ने भीमदेव की बड़ी सहायता की। राजपूतों और मुसलमानों के बीच घमासान युद्ध हुआ लेकिन दुर्भाग्य से भीमदेव को बहुत नुकसान सहन करना पड़ा। भीमदेव की सेना की हार हुई। कुतुबुद्दीन अणहिलपुर पटक तक घुस आया और नगर को लूट लिया। इस दौरान ध्वलक का राजा लवणप्रसाद वाघेला, जो सोलंकी की दूसरी शाखा से था, अपनी सेना लेकर पाटण आ पहुँचा। उसने मुसलमान सेना का बड़ी बहादुरी से सामना किया जिससे मुसलमानों को अजमेर लौट जाना पड़ा। इस युद्ध से गुजरात और आबू का कोई प्रदेश कुतुबुद्दीन के अधीन नहीं हुआ। पाटण में भीमदेव की सत्ता अबाधित रही और आबू के राजा भी पाटण के महामंडलेश्वर बने रहे। उस समय मेवाड़ भी भीमदेव के अधीन था।

मालवा युद्ध :

मालवा गुजरात के सोलंकी राजाओं के अधीन था। मालवा के परमार राजा विंध्यवर्मा ने भीमदेव की निर्बल परिस्थिति का लाभ उठाकर मालवा की भूमि परत लेने के लिये प्रयत्न किया। भीमदेव ने कुमार जो मूलराज द्वितीय का महामात्य रहा था, को सेना लेकर विंध्यवर्मा के सामने भेजा। युद्ध में विंध्यवर्मा कुमार के सामने टिक न सका और रणभूमि छोड़कर भाग गया। कुमार ने विंध्यवर्मा के गोगस्थान शहर को ध्वस्त किया और वहाँ महल के स्थान पर कुआ खुदवाया।

विंध्यवर्मा के बाद उसका पुत्र सुभटवर्मा मालवा की गदी पर बैठा। परमार अब धरी-धरी बलवान होते जा रहे थे। सुभटवर्मा पराक्रमी और प्रतापी राजा था। वह सेना लेकर गुजरात के पूर्वोत्तर प्रदेश पर चढ़ आया। उसने दर्भावती (डभोई) को जीत लिया और वहाँ के वैद्यनाथ मंदिर के सुवर्ण कलश उतार लिए। वहाँ से सुभटवर्मा देवपट्ठन (प्रभास पाटण-सोमनाथ) की ओर बढ़ा। वह देवपट्ठन की ओर बढ़ रहा था कि लवणप्रसाद वाघेला सेना लेकर आ पहुँचा और सुभटवर्मा को हांक निकाला। लवणप्रसाद ने सुभटवर्मा को गुजरात की सीमा से बाहर निकाल कर गुजरात को बचा लिया।

भीमदेव और जयंतसिंह :

जयंतसिंह सोलंकी वर्ष्णिपथक और गंभूतापथक में सत्ताधारी था। भीमदेव कुछ निर्बल और भोला था। उसे लोग भोला भीमदेव भी कहते थे। इतिहास में भीमदेव प्रथम ‘बाणावली भीमदेव’ के नाम से भीमदेव द्वितीय ‘भोला भीमदेव’ के नाम से प्रसिद्ध है। भीमदेव द्वितीय के भोलेपन का लाभ उठाकर पाटण में भीतरी खटपटे बढ़ गई थी। इस परिस्थिति का लाभ उठाकर वर्ष्णिपथक और गंभूतापथक के जयंतसिंह सोलंकी ने भीमदेव से सत्ता छीन ली। वह सोलंकी वंश का था। उसने वर्ष्णिपथक में साम्यवाड़ा और गंभूतापथक में से कुछ जमीन सलखणपुर, जो भीमदेव ने अपनी माता सलखणा देवी के नाम से गाँव बसाया था, के आनलेश्वर और सलखणेश्वर मंदिरों को दान दी। जयंतसिंह ने अपने आपको दान-पत्रों में ‘राज्य

लक्ष्मी को स्वयं वरने वाला, मार्टड (सूर्य) जैसे प्रताप वाला, चौलुक्य (सौलंकी) कुल की कल्पलता का विस्तारक अभिनव सिद्धराज, भूमि का उद्धारक वराह जैसा, दुर्देवरूप दावानल से जली हुई गुर्जर भूमि के बीज को अंकुरित करने वाला पर्जन्य, एकांगवीर' जैसे विरुद्धों से अपने आपको नवाजित किया।

मालवा में सुभट्वर्मा के बाद उसका पुत्र अर्जुनवर्मा सत्ता पर आया। अर्जुनवर्मा ने गुजरात पर आक्रमण किया और पावागढ़ (पर्व) पर्वत के पास हुए सुदूर में जयंतसिंह को हरा दिया। जयंतसिंह ने अर्जुनवर्मा परमार के साथ अपनी पुत्री जयश्री देवी का विवाह करके संधि कर ली। मालवा के आक्रमण से कमजोर पड़ने वाले जयंतसिंह की परिस्थिति का लाभ उठाकर भीमदेव द्वितीय ने लवणप्रसाद वाघेला और उसके पुत्र वीरध्वल की सहायता से अपना राज्य वापस ले लिया, जो उसने अपनी मृत्यु ई.स. 1242 (63 वर्ष) तक भुगता।

वाघेला सामंत और भीमदेव :

गुजरात के सोलंकी राजाओं में सबसे अधिक समय तक भीमदेव द्वितीय ने राज्य किया लेकिन वह अपने पुरोगामी राजाओं जैसा शक्तिशाली राजा नहीं था। हालांकि उसके समय की राजकीय परिस्थितियाँ भी कुछ अच्छी नहीं थी। गुजरात की सीमाओं पर अपने-अपने राज्यों में पराक्रमी व शक्तिशाली राजा सत्ता में थे। शाकंभरी का पृथ्वीराज चौहाण, मालवा में नरवर्मा, दिल्ली में मुसलमान सत्ता में आ गए थे। गुजरात को इन सबका सामना करना पड़ा था और पराजय भी सहन करनी पड़ी थी। ऐसी विषम परिस्थितियों में भी भीमदेव सत्ता पर टिके रहा। उसका कारण उसके ध्वलक और आबू के वफादार सामंत थे। ध्वलक (धोलका) में राणक लवणप्रसाद और उसका वीर पुत्र वीरध्वल था। लवणप्रसाद व्याघ्रपल्ली के अर्णोराज का पुत्र था, जो सोलंकी कुल की वाघेला शाखा का था। लवणप्रसाद ने ध्वलक में रहकर अपनी सत्ता का विस्तार किया था। वह स्वयं ध्वलक का राणा (राण) कहलाता था। लवणप्रसाद और उसका पुत्र वीर ध्वल दोनों ही बड़े वीर और पराक्रमी थे। पिता और पुत्र दोनों ही भीमदेव के वफादार थे। वे अपने आपको पाटण के

मंडलेश्वर कहलवाते थे। उनके दो जैन मंत्री वस्तुपाल और तेजपाल, जो दोनों भाई थे, बड़े वीर योद्धा और बुद्धिमान एवं संस्कृति प्रिय थे। लवणप्रसाद और वीरध्वल ने अपने मंत्रियों वस्तुपाल और तेजपाल की सहायता से पाटण पर हुए दुश्मनों के हमलों को रोका और भीमदेव की सत्ता को बनाए रखा। उन्होंने सौराष्ट्र के राजाओं, मारवाड़ के राजाओं, लाट के शंख (संग्रामसिंह), गोधरा के धुधल, देवगिरी के यादव राजा सिंधण और मुसलमानों का बड़ी मुकम्मलता और वीरता से सामना करके भीमदेव की सत्ता बनाए रखी। गुजरात-पाटण का राजा के रूप में परम भट्टारक महाराजाधिराज भीमदेव द्वितीय था, लेकिन वास्तविक रूप में सत्ता के सूत्र लवणप्रसाद और वीरध्वल के पास थे। वे चाहते तो पाटण की गद्दी हथिया लेते लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया और पाटण व भीमदेव के वफादार मंडलेश्वर के पद पर रहकर काम करते रहे।

सत्कर्म :

भीमदेव द्वितीय ने अपने पूर्वजों से विशेष दान कर्म किये थे। भीमदेव के नाम से लगभग बारह दानपत्र मिले हैं, इन सब दानपत्रों (ताप्रपत्रों) को देखने से भीमदेव द्वितीय के शासनकाल में किए गये लोकहितार्थ व लोकोपयोगी कार्यों का ख्याल आता है। भीमदेव द्वितीय ने अपनी रानी लीलादेवी के नाम से गंभूता के पास लीलापुर गाँव बसाया और वहाँ भीमेश्वर और लीलेश्वर नामक दो शिवालयों का निर्माण करवाया। सोमनाथ (प्रभास पट्टन) में मेघनाद मंडप बनवाया। वहाँ के अधिकारी श्रीधर ने अपने माता-पिता की सेवार्थ सोमनाथ में विष्णु और शिव मंदिर बनवाये। मंडली में वहाँ के मठपति वेद गर्भराशि को भूमिदान किया। सलखणपुर में भीमदेव ने अपनी माता के पुण्यार्थ सलखणेश्वर और आनलेश्वर मंदिरों की पूजा के लिये ग्राम दान दिए। यह सलखणेश्वर मंदिर ध्वलक के राणा लवणप्रसाद ने बनवाया था। भीमदेव ने धूसड़ी में वीरमेश्वर मंदिर के साथ-साथ अपनी पत्नी सूमलदेवी की श्रेयार्थ सूमलेश्वर मंदिर बनवाया। इन मंदिरों के नैवेद्य और पंचोपचार पूजा के लिये ग्राम दान में दिए। इस प्रकार भीमदेव ने मंदिरों के निभाव के लिये कई गाँवों का दान

(शेष पृष्ठ 34 पर)

जीवन का अमृत-सदाचार

- श्री कमला शंकरसिंह

इस संसार में सदाचारी-दुराचारी, संयमी-व्यभिचारी, सज्जन-दुर्जन, निर्मल-पतित, धनी-निर्धन, पण्डित-मूर्ख सभी प्रकार के लोग भेर पड़े हैं। उनमें हम किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति जो आकर्षित होते हैं, उसमें उस व्यक्ति की सुन्दरता, वेशभूषा की विशेषता, वाणी की मधुरता और विद्वता अथवा कार्यक्षमता आदि बातें ही हमारे आकर्षण का कारण होती है। पर इन सबसे पेरे किसी में एक अन्तर्वर्ती तत्त्व भी होता है, जो जनसमूह को अपनी ओर स्थायी रूप से आकृष्ट करता है। यह अन्तर्वर्ती तत्त्व होता है, उस व्यक्ति का आचार और उसके विचारों की पवित्रता, उसकी सत्यनिष्ठा तथा देश और समाज की सेवा में संकल्पित मन, वचन और कर्म की एकाग्रता-जिसे हम ‘सदाचार’ कहते हैं। सदाचारी व्यक्ति भले ही कुरुप हो, उसकी वेश-भूषा आकर्षक न हो, उसकी वाणी ओज-हीन हो अथवा उसमें बुद्धि-चापत्य और बुद्धि की दार्शनिकता भी न हो तो भी वह अपने सद्वृत्तियों के कारण एक दैवी प्रतिमा, एक दैवी गुण से समादृत होने के नाते सबके स्थायी आकर्षण का केन्द्र होगा।

सदाचार की भावना इतनी पवित्र है कि वह जीवन में, समाज में, भीतर-बाहर सब जगह पवित्रता वितरित करती है और इसे ही प्रतिष्ठित करना चाहती है और हमारी सद्वृत्तियों को भी जाग्रत करती है। सदाचारी का संपूर्ण जीवन पवित्र रहता है। जिस प्रकार कलाकार की कला उसके समस्त दृष्टिकोण को कलामय बना देती है, उसकी मात्र चित्रकला ही नहीं, उसकी समस्त कृतियाँ, उसकी वाणी, व्यवहार, उसके चलने-फिरने, उठने-बैठने, खाने-पीने-रहने आदि सभी क्रियाओं को प्राणवान एवं कलात्मक बनाना चाहती है, उसी प्रकार सत्य का ध्येय सदाचारों के दृष्टिकोणों को शुद्ध, सात्त्विक, प्रेमिल और निर्भय तो बनाती ही है, उसके संपूर्ण जीवन को अपने विशिष्ट सौरभ एवं माधुर्य से ‘सत्यं शिवं सुन्दरम्’ बना देती है।

सदाचार वह स्नेहयुक्त दीपक है, जो मानव को

घने अंधकार से निकाल, असम्यता के पङ्क्षसे खींचकर, बर्बरता की सीमा का अतिक्रमण कराकर, संतों की कोटि में ला बैठाता है। यह मनुष्य को ऊँचा उठाता है, नर से नारायण बनाता है। यदि आप इतने उच्च स्थान पर पहुँच जायँ जहाँ दुश्चिन्ता की गुंजाइश नहीं, दुष्कर्म के लिये स्थान नहीं और दुर्भाव का भी अभाव है तो आप ब्रह्म हैं और आपकी और ईश्वर की सत्ता में कोई अन्तर नहीं है। प्राणी अपने मन, वचन और शरीर से जैसा कर्म करता है, फिर स्वयं वैसा ही फल भोगता है। आत्मा ही सुख और दुःख को उत्पन्न करने वाला है। आत्मा ही कर्ता-धर्ता है। सदाचार से आत्मा मित्र है और दुराचार से अमित्र। ‘आचार ही स्वर्ग है और अनाचार ही नरक’।

मनुष्य के जैसे विचार होते हैं, वैसे ही उसके आचरण भी होते हैं। कड़वे-विषेले विचारों से जीवात्मा दूषित हो जाता है। बुरे विचार बुरे कामों से भी भयंकर हैं। सद्विचारों के अभाव में सदाचार, सत्कर्म असम्भव है। ऊँचे विचार रखना पावन जीवन के लिये अनिवार्य है। सद्विचारों का जन्म होता रहे और असत् विचारों का स्पर्श भी न होने पाये तो मनुष्य अपनी असीम आत्म-शक्ति का प्रत्यक्षीकरण कर सकता है। ऐसे ही व्यक्तियों में दृढ़ संकल्प की शक्ति होती है और उसकी सुम शक्तियाँ जाग उठती हैं। विचारों का कोई मूर्ख रूप नहीं, उसका कोई आकार नहीं; फिर भी संसार में कोई ऐसा बुद्धिमान् नहीं, जो विचारों की शक्ति में विश्वास न करता हो। यह विचारों की शक्ति जब संकल्प के रूप में परिवर्तित हो जाती है, तब मानव-जीवन में आत्म-विश्वास और आत्म-निर्भरता उत्पन्न होती है। सदाचार का सीधा सम्बन्ध विचार से है। पहले विचार, तब आचार-इस प्रकार ‘असतो मा सद्गमय’-असद्विचारों से निकालकर हम सद्विचारों की ओर चलते हैं।

स्वामी विवेकानन्दजी सदा ईश्वर से ही प्रार्थना करते थे कि उनके हृदय में सदा सद्विचारों का ही जन्म

हो। उनके विचारों पर असत् की छाया भी न पड़ने पाये। वे यह जानते थे कि जब तक मनुष्य अपने सद्विचारों के अनुरूप संसार में अच्छे कार्य नहीं करेगा, तब तक उसके साथ कौन सदव्यवहार करेगा।

सदाचार का मूल विनय है। जो उद्धृत न हो, नम्र हो, चपल न हो, स्थिर हो, शिष्ट हो; वही सदाचारी है। सदाचारी में सहदयता, सज्जनता, उदारता, श्रद्धालुता और सहिष्णुता अपना स्फुट रूप लिये प्रत्यक्ष होती है। सदाचारी का अपने प्रति पूर्ण विश्वास होता है। उसमें आत्म-गौरव होता है। वह दीन-दुःखियों की दीनता पर अपने को अर्पण करता है। वह सहदय और उदार होता है। वह सभ्य और शीलवान होता है। वास्तव में, जिसका चित्त शान्त है, जो सबके प्रति कोमल भाव रखता है, जो अपना अपमान होने पर भी क्रोध नहीं करता, जो मन, वाणी और क्रिया द्वारा कभी दूसरों से द्रोह करने की इच्छा नहीं रखता, जिसका चित्त दया से द्रवित हो जाता है, द्वेष और हिंसा से सदा ही जो मुँह मोड़े रहता है- जिसमें क्षमा की क्षमता है, उसका जीवन सदा उज्ज्वल, निष्कलङ्क बना रहता है। वह अपने आचार द्वारा, अपने व्यवहार द्वारा दूसरों को प्रसन्न रखने की कला जानता है। जो कुछ वह अपने प्रति चाहता है, वैसा ही दूसरों के प्रति भी करना वह अपना धर्म मानता है -

'यद्यदात्मनि चेच्छेत तत् परस्यापि चिन्तयेत्'

आचारहीन व्यक्ति को वेद या ज्ञान पवित्र नहीं करता, उसे ऊँचा नहीं उठा सकता। जब ज्ञान क्रियाशीलता में परिणत होता है और आचरण की शान पर चढ़ता है, तब वास्तविक चरित्र का निर्माण होता है। मनुष्य चाहे परम ज्ञानी हो, पर सदाचारी न हो तो उसके ज्ञान का कोई मूल्य नहीं। सदाचार के अभाव में ज्ञान विष के समान भयंकर हो सकता है। रावण विद्वान था, ज्ञानवान था, चारों वेद और छः शास्त्रों का महान पण्डित था, परन्तु वह सदाचारी न था। इसके विपरीत भगवान राम केवल सदाचार के बल पर ही विजयी एवं पूज्य हुए। सदाचार से ही मानव-जीवन सन्मार्ग पर अग्रसर होता है,

कोरे ज्ञान का कोई महत्व नहीं। मनुष्य अपने जीवन में आचरण द्वारा ही चरित्र की शक्ति अर्जित करता है। चरित्र की शक्ति असीम है। चरित्रवान् व्यक्ति कठिन-सेकठिन परिस्थिति में भी अपने चरित्र और अपने शील गुण का त्याग नहीं करता। संसार अपने पथ से भले ही विचलित हो जाय, परन्तु वह अपने सत्याचार का पथ कभी न छोड़ेगा। सत्य की रक्षा के लिये वह अपने प्राणों की बाजी लगा देगा। सत्य की रक्षा की थी-भीम पितामह ने शर-शश्या पर; ईसा ने सूली पर चढ़कर और मीरा ने विष-पान कर।

सच्चे उद्देश्य को लेकर हजारों आदमी शूली पर चढ़ते रहे हैं। यदि विचार विमल हो, जीवन निर्दोष हो, उद्देश्य उच्च हो और कष्ट का पहाड़ सिर पर गिर पड़े तो कष्ट नहीं होता, ग्लानि नहीं होती, वरन् सत्पुरुष अपने प्राण लेने वालों पर दया ही करते हैं; आशीष ही देते हैं और ईश्वर से उन्हें क्षमा कर देने की प्रार्थना भी करते हैं। सत्पुरुषों की यही महत्ता है। इनके ही लिये स्वामी विवेकानन्दजी ने कहा है- ‘सारी दुनियां ही क्यों, स्वयं अपने द्वारा भी तिरस्कृत कपूत के होंठ जब सूखने लगते हैं तो माँ के स्तनों से वात्सल्य फूट पड़ता है, वैसे ही पतित-से-पतित के लिये भी सत्य का हिमाचल अपने वक्ष में करुणारूपी गङ्गा छिपाये रहता है।’

भला करने वाले का भला तो प्रायः सभी करते हैं, परन्तु जो बुरा करने वालों का भी भला करता है-वह शिवत्व को प्राप्त करता है, जो सदाचार से ही सम्भव है-

उमा संत कह इहङ् बङ्गाई

मंद करत जो करङ् भलाई॥

जीवन में सदाचार की प्रेरणा सुरुचि से ही मिलती है-यही भावस्रोत है। बहुत दिनों पहले की बात है। मिस्त्र में ‘नकिबेन’ नाम के एक सदाचारी राजा राज्य करते थे। उनके सत्याचरण से देवता बड़े प्रसन्न हुए। प्रकट होकर नील देवता ने राजा को एक तलवार दी और कहा- ‘राजन्! यह तलवार ले, इसे लेकर तू विश्व-विजयी होगा।’ इस पर राजा बोला-‘प्रभो! मुझे तलवार नहीं

चाहिये। विश्व-विजय करके मैं क्या पाऊँगा?’ ‘अच्छा तो ले यह पारस-पत्थर! तू देवताओं से भी अधिक धन एकत्र करेगा।’ ‘प्रभो! अपरिमित धन पाकर अन्ततः मैं क्या करूँगा?’ ‘तो ले, यह स्वर्ग की सबसे सुन्दर अप्सरा।’ ‘मगर प्रभो! अप्सरा पाकर मैं जीवन की कौन-सी सिद्धि पा जाऊँगा।’ ‘तो ले, यह फूल का पौधा, यह जहाँ उगेगा, वहाँ जड़-चेतन, शत्रु-मित्र सभी सुगन्ध से आपूरित हो जायेंगे।’ देवता ने कहा।

इस पर राजा ने बड़ी कृतज्ञता के साथ वह पौधा उससे ले लिया। देवदूत स्वर्ग की समस्त नियामतें राजा नकिबेन के इस चतुर प्रवीण निश्चय पर न्यौछावर करते हुए चला गया। राजा के इस चयन पर दुनियाँ आज भी मुग्ध हैं। क्यों? इसलिये कि उसने ऐसी दैवी सम्पदा चुनी, जिसे व्यक्ति संपूर्णतः भोगकर भी अकेला नहीं भोगता है। ऐसी सम्पदा, जो व्यक्ति से कुछ लेती नहीं, जो व्यक्ति-व्यक्ति को बिलगाती नहीं, प्रत्युत मिलाती है तथा जिसका मूल्य कभी घटता नहीं। तलवार का पानी उतर जाता है, धन का भी दुरुपयोग हो जाता है, सुन्दरी की श्री ढल जाती है, किन्तु फूल का सम्मान कभी नहीं घटता। जो भी आँखें उसे देख लेती हैं, स्वयं खिल जाती हैं। जो भी दिल उसकी गन्ध छू लेता है, खुद फूल बन जाता है। फूल की सौरभ से देवता भी स्वर्ग से धरती पर आकर वरदान बिखेरने लगते हैं। वरदान ही है, सदाचार का साध्य।

सदाचार सहज साधना है। यदि हम ईश्वर की

सर्वव्यापकता का चिंतन प्रत्येक श्वास में करते रहें-इस अभ्यास से विरत न हों, तो हमारा जीवन सहज ही अमृतमय हो जाय।

आदमी मन्दिर में पूजा तथा आरती करके और भिक्षुकों को भिक्षा देकर मानने लगा है कि वह सदाचारी है तथा निर्वाण-अधिकारी हो गया है, किन्तु दफतर में कुर्सी पर और दुकान में बैठकर उसे झूठ बोलना है, चोरी करनी है, घूस लेना है और हर सम्भव उपाय से, नैतिक-अनैतिक ढंग से अपने लिये अर्थोपार्जन करना है, छल से काम-तृप्ति करना है। पर ‘सहज साधना’ के लिये सारे जीवन को एक मानकर चलना होगा। जीवन का कोई खास क्षण या समय आराधना के लिये निश्चित नहीं किया जा सकता, बल्कि जीवन के प्रत्येक क्षण को आराधनामय बनाना होगा। जीवन की कोई खास क्रिया नहीं, बल्कि सारी क्रियाएँ पूजा होंगी-

‘जहाँ-जहाँ जाऊँ सोइ परिकरमा, जोइ-जोइ करूँ सो पूजा।
सहज समाधि सदा उर राखूँ, भाव मिटा दूँ दूजा॥’

उसी का जीवन महत्वपूर्ण बनता है, जिसके जन्म तथा मृत्यु ने सदाचार का मार्ग प्रशस्त करने में सहयोग दिया है।

सदाचार आत्मगुण है-इसके द्वारा हृदय-मन्थन से जो सत्य प्रकट होता है, वह है जीवन का अमृत और असत्य है विष। धन्य हैं सदाचारी वे, जो विष का शमन और अमृत की निरंतर वर्षा करते रहते हैं।

अन्तःकरण की शुद्धि

अंतःकरण में चार तत्वों का समावेश है,-‘मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। मन का कार्य विचारों को ग्रहण करना है। बुद्धि का कार्य मन के द्वारा ग्रहण किए गये विचारों का निर्णय करना कि ये विचार उचित है अथवा अनुचित। चित्त का कार्य इन विचारों को संग्रहित करना है। सात्त्विक अहंकार का कार्य संग्रहित विचारों को आत्मा तक पहुँचाना है।

मन की शुद्धि-सत्याचरण से, बुद्धि की शुद्धि ज्ञान से, चित्त की शुद्धि चिंतन-मनन से और अहंकार की शुद्धि सेवा से होती है।

- स्वामी धर्मबन्धु

संयोग, वियोग और योग

– स्वामी रामसुखदासजी

गीता में भगवान् कहते हैं -

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। (6/23)

‘जिसमें दुःखों के संयोग का ही वियोग है, उसको योग नाम से जानना चाहिये।

सुख और दुःख दोनों आने-जाने वाले हैं, पर जिस प्रकाश में इन दोनों के आने-जाने का भान होता है, उसका नाम ‘योग’ है। उस प्रकाश में सुख और दुःख दोनों ही नहीं हैं। अगर सुख-दुःख की सत्ता मानें तो सुख और दुःख दोनों भिन्न-भिन्न हैं। सुख के समय दुःख नहीं है और दुःख के समय सुख नहीं है। परन्तु ज्ञान में, चित्त शक्ति में ये दोनों ही नहीं हैं। ये दोनों आने-जाने वाले और अनित्य हैं- ‘आगमापायिनेऽनित्यः’ (गीता 2/14) परन्तु ये दोनों सुख और दुःख जिससे प्रकाशित होते हैं, वह प्रकाश सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। उस प्रकाश को ही ‘योग’ अथवा ‘नित्य योग’ कहते हैं। उस नित्य योग में स्थिति करनी नहीं है, प्रत्युत उसमें हमारी स्वतः-स्वाभाविक स्थिति है। केवल उधर लक्ष्य करके अनुभव करना है। अगर स्थिति करेंगे तो कर्तृत्वाभिमान आ जाएगा।

जैसे किसी सत्संग-भवन में बिजली का प्रकाश हो रहा हो तो जब वहाँ कोई भी आदमी नहीं आता, तब भी प्रकाश रहता है, जब सब आदमी आ जाते हैं, तब भी प्रकाश रहता है और जब सब आदमी चले जाते हैं, तब भी प्रकाश रहता है। आदमी आये अथवा चले जायें, कम आये अथवा ज्यादा आये, प्रकाश में कोई फर्क नहीं पड़ता, वह ज्यों-का-त्यों रहता है। परन्तु हमारा लक्ष्य प्रकाश की तरफ नहीं रहता, प्रत्युत आदमियों की तरफ रहता है कि इतने आदमी आ गये, इतने आदमी चले गये। इसी तरह संयोग हो या वियोग हो, नित्ययोग में कोई फर्क नहीं पड़ता, वह सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। नित्ययोग में न संसार है और न संसार का संयोग-वियोग है। हमें केवल उधर लक्ष्य करना है।

गीता में आया है -

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ (6/25)

तात्पर्य है कि कुछ भी चिंतन न करे। आत्मा का, अनात्मा का, परमात्मा का, संसार का, संयोग का, वियोग का कुछ भी चिन्तन न करे। करने से उपासना होती है, तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती। तत्त्व की प्राप्ति तो केवल लक्ष्य करने से होती है कि ‘यह है’!

कोई तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त, भगवत्प्रेमी महापुरुष हो या साधारण आदमी हो, ज्ञानी हो या अज्ञानी हो, सदाचारी हो या दुराचारी हो, सज्जन हो या दुष्ट हो, भक्त हो या कसाई हो, तत्त्व में कोई फर्क नहीं पड़ता। तत्त्व में न श्रवण है, न मनन है, न निदिध्यासन है, न ध्यान है, न समाधि है, न व्युत्थान है। केवल उधर लक्ष्य करना है। गुरु भी वास्तव में कोई नया ज्ञान नहीं देता, प्रत्युत जो ज्ञान शिष्य के भीतर पहले से ही विद्यमान है, उसकी तरफ लक्ष्य कराता है। लक्ष्य करने से तत्त्व की जागृति हो जाती है। अगर गुरु के भीतर यह अभिमान आता है कि मैंने शिष्य को ज्ञान दे दिया, उसका अज्ञान मिटा दिया, उसका कल्याण कर दिया तो वह वास्तव में गुरु है ही नहीं! वास्तविक गुरु के भीतर तो यह भाव रहता है कि मैंने शिष्य की बात ही उसको बतायी है, उसके अनुभव की तरफ ही उसकी दृष्टि करायी है, नया कुछ नहीं दिया है। इसलिये तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त, भगवत्प्रेमी महात्माओं में कभी यह स्फुरण होती ही नहीं कि मैंने इसको कुछ दे दिया, इसका कल्याण कर दिया। परन्तु शिष्य की दृष्टि से देखें तो गुरु ने कृपा करके इतना दे दिया, जिसका कोई अन्त ही नहीं है। दूसरा कोई इतना दे ही नहीं सकता। कारण कि अनन्त जन्मों से जिसकी तरफ लक्ष्य नहीं गया था, उस तत्त्व की तरफ लक्ष्य करा दिया, जिससे उसकी जागृति हो गयी। अनादिकाल से संसार में भटकते जीव को इतना दिया कि कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहा।

जैसे एक आदमी दिन भर खेत में काम करता है तो शाम को मालिक उसको पैसा देता है। अगर ऐसा माने कि पैसे उसको काम करने से मिले तो फिर किसी जंगल में जाकर काम करने से पैसे क्यों नहीं मिलते? अगर ऐसा माने कि पैसे मालिक से मिलते हैं तो फिर बिना काम किये मालिक पैसे क्यों नहीं देता? अतः वास्तव में पैसे न तो काम करने से मिलते हैं और न मालिक से मिलते हैं, प्रत्युत अपने प्रारब्ध से मिलते हैं। ऐसे ही तत्त्व न गुरु से मिलता है, न भगवान से मिलता है, प्रत्युत अपनी जिज्ञासा से मिलता है। अगर शिष्य में जिज्ञासा न हो, तत्त्व को जानने की चाहना न हो तो गुरु क्या करेगा?

**दीन्ही थी लागी नहीं, बाँस नली में फूँक।
गुरु बेचारा क्या करे, चेले माँही चूक॥**

इसलिये तत्त्व को जानने के लिये कोई विशेष अधिकारी बनने की जरूरत नहीं है, प्रत्युत केवल जिज्ञासा की जरूरत है। जिसके भीतर जिज्ञासा है, वह तत्त्व को जानने का अधिकारी हो गया।

योग अनित्य नहीं है, प्रत्युत नित्य है। भगवान् ने भी योग को अव्यय कहा है- ‘इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्’ (गीता 4:1)। साधक कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि किसी मार्ग से चले, अन्त में उसको नित्ययोग की ही प्राप्ति होगी। साधक की कर्मयोग में रुचि है तो वह कर्मयोग से नित्ययोग का अनुभव कर लेगा, ज्ञान योग में रुचि है तो वह ज्ञानयोग से नित्ययोग का अनुभव कर लेगा, भक्तियोग में रुचि है तो वह भक्तियोग से नित्ययोग का अनुभव कर लेगा और ध्यानयोग में रुचि है तो वह ध्यानयोग से नित्ययोग का अनुभव कर लेगा। इस नित्ययोग का कभी किसी भी अवस्था में अभाव नहीं होता। यह अज्ञान-अवस्था में भी वैसा ही रहता है और ज्ञान-अवस्था हो, सुपुसि-अवस्था हो, मूर्च्छा-अवस्था हो अथवा समाधि-अवस्था हो, यह नित्ययोग सदा ज्यों-कात्यों रहता है, इसमें किंचित्मात्र भी फर्क नहीं पड़ता।

यह नित्ययोग सबको निरंतर स्वतः प्राप्त है, पर जिज्ञासा के बिना साधक इसको पकड़ता नहीं। कारण कि

जिज्ञासा में ही इसको पकड़ने की शक्ति है। जैसे, भोजन बढ़िया हो, पर भूख के बिना उसको पा नहीं सकते और पा लें तो उसका रस नहीं बनता, जिससे वह शक्ति नहीं देता। जब तक जिज्ञासा जाग्रत नहीं होती, तभी तक तत्त्व प्राप्ति में देरी है। जिज्ञासा जाग्रत होने पर कुछ देरी नहीं है। किसी भी तरह का दूसरा कोई आग्रह न हो तो जिज्ञासा जाग्रत होने पर तत्काल नित्ययोग की प्राप्ति हो जाएगी। अगर साधक अपने सम्प्रदाय का, मत का, द्वैत का, अद्वैत का, भक्ति का, ज्ञान का, योग का कोई आग्रह रखेगा तो उसको जल्दी तत्त्व प्राप्ति नहीं होगी। संतों ने कहा है -

**मतवादी जानै नहीं, तत्त्वादी की बात।
सूरज ऊगा उल्लुवा, गिनै अँधेरी रात॥
हरिया तत्त्व विचारियै, क्या मत सेती काम।
तत्त्व बसाया अमरपुर, मतका जमपुर धाम॥**

संसार में हम अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दुःख, भाव-अभाव, आदर-निरादर, निन्दा-स्तुति आदि जितने भी द्वन्द्व देखते हैं, उन सबका संयोग और वियोग होता है। इस संयोग और वियोग-दोनों पर विचार करें तो संयोग अनित्य है और वियोग नित्य है। अगर संसार के नित्यवियोग को स्वीकार कर लें तो परमात्मा के साथ नित्ययोग का अनुभव हो जाएगा।

संसार की किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदि से हमारा संयोग (मिलन) हुआ है तो अन्त में उसका वियोग अवश्य होगा -

**सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥**

(वाल्मीकि. 2-105-16; महा.आश्व. 44-19)

‘समस्त संग्रहों का अन्त विनाश है, लौकिक उन्नतियों का अन्त पतन है, संयोगों का अन्त वियोग है और जीवन का अन्त मरण है।’

संसार का वियोग नित्य है-इसका अनुभव मनुष्य मात्र को है। यह कोई नयी बात नहीं है। पहले भी वियोग था, बाद में भी वियोग रहेगा और संयोग के समय

भी निरन्तर वियोग हो रहा है; अतः वियोग नित्य है। नित्य को स्वीकार कर लें तो अनित्य का त्याग हो जाएगा। अनित्य का त्याग करना ही साधक का मुख्य कार्य है। वास्तव में वियोग का ही महत्त्व है, संयोग का नहीं। साधक से गलती यह होती है कि वह संयोग को सच्चा मानकर उसको महत्त्व देता है, पर वियोग को महत्त्व नहीं देता। वह वियोग में संयोग की लालसा रखता है; जैसे-धन नहीं हो तो धन की लालसा रखता है। अगर वह संयोग के साथ सम्बन्ध न रखकर वियोग के साथ सम्बन्ध रखे, वियोग को ही महत्त्व दे तो निहाल हो जाय! जो नित्य (वियोग) को महत्त्व दे, वह साधक है और जो अनित्य (संयोग) को महत्त्व दे, वह संसारी है। जो नित्य का आदर करता है, वह ज्ञानी है और जो अनित्य का आदर करता है, वह अज्ञानी है। नित्य तत्त्व को न पकड़कर अनित्य तत्त्व को पकड़ना ही जन्म-मरण का कारण है। गीता में आया है-

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ (13-21)

‘गुणों का संग ही ऊँच-नीच योनियों में जन्म होने का कारण है।’

गुणों का संग अनित्य है और गुणों से असंगता नित्य है। असंगता अपना स्वरूप है- ‘असङ्गो ह्यायं परुषः’ (बृहदा. 4-3-15)। अगर नित्य (गुणों से असंगता) को पकड़ें तो जन्म-मरण हो ही नहीं सकता।

संयोग अनित्य है और वियोग नित्य है- यह संपूर्ण वेदों और शास्त्रों की सार बात है। संसार के वियोग का अनुभव कर लेना ही नित्ययोग है- **‘तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्’** (गीता 6-23)। मिलना नित्य नहीं रहेगा, पर बिछुड़ना नित्य रहेगा। हम मिलन की इच्छा रखते हैं, मिलन को महत्त्व देते हैं- यह मूर्खता है। यह मूर्खता सत्संग से मिटती है।

संसार का वियोग नित्य है- यह किसी एक व्यक्ति, मत, सम्प्रदाय, धर्म आदि की बात नहीं है, प्रत्युत सबकी बात है। इसमें कोई मतभेद नहीं है। जिससे नित्य वियोग है, उसके संयोग को स्वीकार कर लिया, उसको सत्ता

और महत्ता दे दी, इसलिये नित्ययोग का अनुभव नहीं हो रहा है। जो ‘नहीं’ है, उसको ‘है’ मान लिया, इसलिये ‘है’ होते हुए भी दीखना बन्द हो गया। ‘है’ तो सदा ‘है’ ही रहता है, कभी ‘नहीं’ में बदलता नहीं। सदा साथ रहने वाले को देखने का यही उपाय है कि सदा बिछुड़ने वाले को साथ न मानें। जिसका वियोग अवश्य होगा, उसके वियोग को वर्तमान में ही स्वीकार कर लें। तात्पर्य है कि जिसका वियोग हो जाएगा, उसमें राग न करें, उसको महत्त्व न दें, उसके प्रभाव को स्वीकार न करें। जब सब संयोगों का वियोग हो जाएगा अर्थात् संयोगों में राग नहीं रहेगा, तब नित्ययोग का अनुभव हो जाएगा।

कुछ लोग ऐसी शंका करते हैं कि नित्ययोग का अनुभव होने पर अर्थात् ज्ञान होने पर व्यवहार कैसे होगा? वास्तव में ज्ञान अज्ञान का निवर्तक होता है, व्यवहार का निवर्तक नहीं होता। अतः ज्ञान होने पर व्यवहार में कोई बाधा नहीं आयेगी, प्रत्युत कामना, ममता, स्वार्थ आदि दोषों के मिट जाने से बड़ा अच्छा और सुन्दर व्यवहार होगा। उस व्यवहार से स्वतः-स्वाभाविक सबका हित होगा।

संसार में जितना भी संयोग देखने में आता है, सबका निरन्तर वियोग हो रहा है। संकल्प-विकल्प भी मिट रहे हैं। कोई बड़ी आफत आ जाय तो वह भी मिट रही है। किसी मनुष्य के मने का शोक होता है तो वह शोक भी बिना उद्योग किये, अपने-आप मिट जाता है। तात्पर्य है कि संसार की सब चीजें वियुक्त होने वाली, मिटने वाली हैं और मिट रही हैं-

**ऊगा सोई आथवें, फूला सो कुम्हलाया।
चिण्या देवल दृहं पङ्गे, जाया सो मर जाय॥**

अगर इस नित्यवियोग को अभी स्वीकार कर लें तो इतने से ही बड़ी शान्ति मिलेगी, मन की हलचल मिटेगी। कोई आदमी मर जाता है तो हृदय में एक धक्का लगता है। धन चला जाता है तो एक धक्का लगता है, क्यों धक्का लगता है? उनके संयोग को स्थायी मान

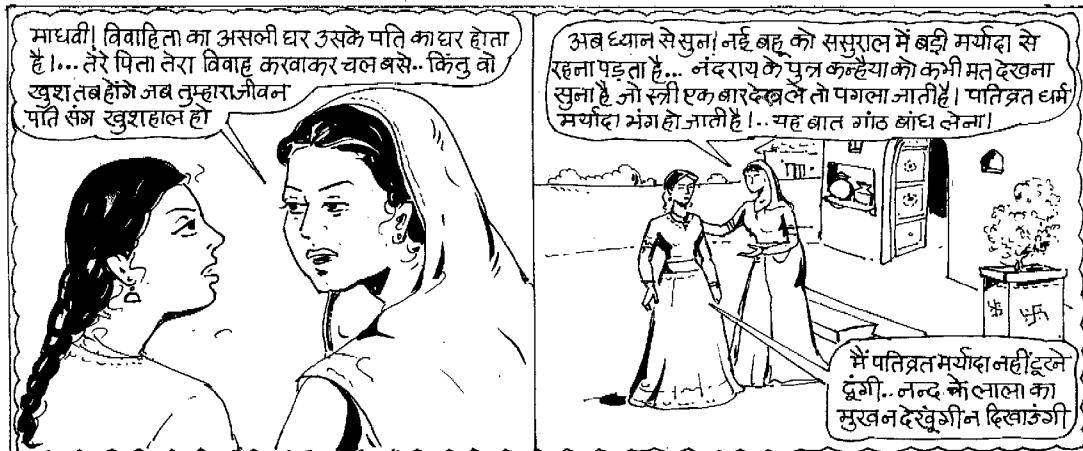
(शेष पृष्ठ 34 पर)

भक्त शिरोमणि मीरा बाई

- आलेख एवं चित्रांकन ब्रजराजसिंह खरेड़ा

मीरा जी की लोकप्रियता वृद्धावन की सीमा पार कर रही थी... घोटे बड़े संतों से लेकर वृहस्य नरनारी मीरा जी के दर्शन को आते, उनका तेजस्वी रूप व सुर्खेते भजनों से अपनी सुध खो देते...





मैं पति व्रत मर्यादा नहीं दूखने दूँगी.. नन्द को लाला का सुखन देखूँगी इसाउँडी



अपनी बात

नास्तिकता यानी संदेह, आस्तिकता यानी श्रद्धा। वस्तव में नास्तिक आस्तिक के विपरीत नहीं है, ऐसे ही संदेह श्रद्धा के विपरीत नहीं है। आस्तिक नास्तिक के आगे की बात है, वैसे ही श्रद्धा संदेह के आगे की बात है। जहाँ संदेह समाप्त होता है, वहाँ श्रद्धा प्रारम्भ होती है। जहाँ नास्तिकता समाप्त होती है, वहाँ आस्तिकता प्रारम्भ होती है। लेकिन नास्तिकता से गुजरना जरूरी है, सभी प्रकार के संदेह के पार जाना जरूरी है।

संसार में अधर्म का प्रसार इतना अधिक इसलिए है कि यहाँ झूठे धार्मिक अधिक हैं। यहाँ प्रार्थना भी पाखण्ड है। यहाँ प्रेम भी ऊपर की बकवास है। यहाँ पूजा भी ढोंग है। यहाँ सारा व्यवहार पाखण्ड है, धोखा है।

हम स्वयं के बारे में तो जानते ही हैं कि हमने जब कहीं हाथ जोड़े थे, तो उसके साथ भीतर हमारी आत्मा नहीं जुड़ी थी। हमने कहीं सिर झुकाया था तो हम नहीं झुके थे। जब हमने किसी को कहा था कि भरोसा करता हूँ, तब बुद्धि तो यह कह रही थी पर हमारा हृदय अनन्य था, झुका नहीं था, जरा भी पिघला नहीं था। ऊपर-ऊपर हमने श्रद्धा ओढ़ी थी, जैसे वस्त्र पहनते हैं, पर आत्मा तो संदेह से भरी थी।

भगवान के प्रति हो, किसी संस्था के प्रति हो, किसी व्यक्ति के प्रति हो, संदेह तो करें, पूरी आत्मा से संदेह करें। संदेह तो मार्ग है। लेकिन अधूरे संदेह पर नहीं रुकना चाहिए संदेह पूरा कर लेना चाहिए। जिस दिन पूरा संदेह करते हैं एक नई विधा खुलती है, वह है, संदेह पर संदेह। संदेह पर संदेह ही संदेह को काट देता है, जैसे काटे को कांटा निकाल लेता है। संदेह ही संदेह को काट देता है। जिस दिन दोनों काटे बाहर हो जाते हैं, अचानक हम पाएंगे कि श्रद्धा की बाढ़ आ गई है।

श्रद्धा की जब बाढ़ आती है तो इसका अर्थ यह न लगा लें कि अब हम परमात्मा पर, संस्था पर या व्यक्ति पर भरोसा करते हैं। उसका इतना ही अर्थ है कि अब भरोसा जगा है। भरोसा पैदा हुआ है।

श्रद्धा बड़ी प्रकाण्ड क्रांति है। उससे बड़ी कोई क्रांति नहीं। अब हम जानते हैं कि संदेह कर-कर के देख लिया, कुछ पाया नहीं, कुछ बचा नहीं, सिफ गंवाया। कौड़ियाँ इकट्ठी की, हीरे खो दिए। अब जब श्रद्धा जगी है तो हम पूरी तरह बदल जाते हैं। अब हम कहते हैं कि कौड़ियाँ जिनको ले जानी हैं, ले जाएँ। हम कौड़ियों को पकड़ने में अब हीरों को नहीं खोएंगे। अब तो हम श्रद्धा का हीरा बचाएंगे। जिसको मीरा कहती है—ऐरी मैं तो राम रतन धन पायो। श्रद्धा का नाम है राम रतन धन। अब सब भ्रम टूट गए, सभी संदेह मिट गए, राम रतन धन पा लिया। कोहिनूर हीरा मिल गया, अब कौन कंकड़-पत्थर छुगे।

संदेह से गुजर कर बच जाए, वही श्रद्धा है। संदेह में जो मर जाए वह कचरा ही समझा जाना चाहिए। वह सोना था ही नहीं, कचरा ही था, अच्छा हुआ मर गया। संदेह ने हमको कचरे को बचाए रखने से बचा दिया। अन्यथा कचरे को सोना समझ कर तिजोरी में रखे बैठे रहते। श्रद्धा भी सार्थक है, संदेह भी सार्थक है। संदेह को स्वीकार करना है पर उस पर अटकना नहीं है, आगे जाना है।

अंधेरा कितना ही बग्ना हो, एक छोटे से दीए को भी बुझा नहीं सकता। अंधेरे की ताकत क्या है? कभी ऐसा सोचा है कि पूरा अंधेरा गिर पड़े दीए पर पहाड़ की तरह और उसे बुझा दे। असंभव! सारी पृथ्वी पर अंधकार भरा हो और हमारे घर में एक छोटा-सा दीया जलता हो तो अंधकार उसे बुझा नहीं सकता। अंधकार की ताकत क्या है? यही श्रद्धा की बात है।

श्रद्धा एक अनुभव है, बुद्धि की मान्यता नहीं। यह कोई धारणा नहीं, एक अनुभव है। श्रद्धा की यह बात परमात्मा के प्रति भी है, जिस संस्था में हम कार्य करते हैं, उसके प्रति भी है और किसी व्यक्ति के प्रति भी है। संदेहों की सीढ़ी से चढ़कर श्रद्धा का द्वार खोलें यही वांछित है।

संघशक्ति / 4 दिसम्बर / 2017 / 33

- : शिविर सूचना :-

यह सूचित करते हुए अत्यन्त हर्ष है कि श्री क्षत्रिय युवक संघ के आगामी प्रशिक्षण शिविर निम्न प्रकार से होने जा रहे हैं-

क्र.सं.	शिविर	समय	मार्ग आदि
1.	प्रा.प्र.शि.	23.12.2017 से 25.12.2017	ढीमा (बनासकांठा)
2.	प्रा.प्र.शि.	23.12.2017 से 25.12.2017	टाणा, तह. सिहोर, जिला-भावनगर (गुजरात)
3.	प्रा.प्र.शि.	23.12.2017 से 25.12.2017	गांधीनगर शहर (गुजरात) सम्पर्क- श्री महावीरसिंह-9978405810
4.	प्रा.प्र.शि. (बालिका)	23.12.2017 से 25.12.2017	बडासण हाई स्कूल, कड़ा मानसा रोड (गुजरात)
5.	प्रा.प्र.शि.	23.12.2017 से 25.12.2017	डोभाड़ा। हिम्मतनगर से अम्बाजी मार्ग पर बडाली (45 कि.मी.), बडाली से धरोई मार्ग पर 10 कि.मी. दूर डोभाड़ा है। (गुजरात)
6.	प्रा.प्र.शि.	24.12.2017 से 27.12.2017	मिठड़ाऊ। जैसलमेर से म्याजलर बस द्वारा पहुँचें।
7.	प्रा.प्र.शि.	24.12.2017 से 27.12.2017	नाग खजूरी, जिला-मन्दसौर। मन्दसौर से सीतामऊ होकर पहुँचें। जावरा से सीतामऊ मार्ग पर नाग खजूरी उतरें। सम्पर्क - श्री महेन्द्रसिंह फतेहगढ़-09425978051 अयाना। तह. जावरा, जिला-रतलाम। जावरा से अयाना 8 कि.मी. दूर है। बस व टैक्सी उपलब्ध है।
8.	प्रा.प्र.शि.	24.12.2017 से 27.12.2017	रतलाम। राजपूत बोर्डिंग हाउस शास्त्रीनगर, रतलाम (म.प्र.) सम्पर्क- श्री कृष्णेन्द्रसिंह सेजावता - 08989897788 श्री ब्रजराजसिंह बेदू - 9425356540
10.	प्रा.प्र.शि. (बालिका)	25.12.2017 से 28.12.2017	अजमेर-पुष्कर। जयमल कोटा।
11.	प्रा.प्र.शि. (बालिका)	24.12.2017 से 27.12.2017	बीकानेर। करणीकन्या छात्रावास फ्लेम गेट गोदाम के पास, गांधी कॉलोनी, बीकानेर।
12.	मा.प्र.शि. (बालिका)	25.12.2017 से 31.12.2017	गड़ियाला। बीकानेर, बजूँ, कोलायत, बाप से बस उपलब्ध है।
13.	मा.प्र.शि. (बालिका)	25.12.2017 से 31.12.2017	तेना। जोधपुर-शेरगढ़ बस मार्ग पर स्थित।
14.	मा.प्र.शि. (बालिका)	25.12.2017 से 31.12.0217	जालोर। वीरमदेव राजपूत छात्रावास।
15.	प्रा.प्र.शि. (बालिका)	28.12.2017 से 31.12.2017	ताल। जिला रतलाम (मध्यप्रदेश) सम्पर्क : मदनसिंह - 09893606416
16.	प्रा.प्र.शि. (बालिका)	28.12.2017 से 31.12.2017	कोटा शहर। सम्पर्क- श्रीमती पिंकू कंवर धर्मपत्नी श्री भंवरसिंह- 8619927352 श्री विरेन्द्रसिंह तलावदा- 9414396530

17.	प्रा.प्र.शि. (बालिका)	30.12.2017 से 01.01.2018	मोरचन्द (गुजरात)
18.	मा.प्र.शि. (बालिका)	31.12.2017 से 3.12.2018	रोजदा। जिला-जयपुर।

- * पूर्व में सूचित शिक्षक शिविर सांचोर, प्रा.प्र. शिविर करण् तथा बालिका शिविर पोकरण अभी स्थगित किए गये हैं।
- * पूर्व में सूचित मोरचन्द शिविर बालकों का नहीं बालिकाओं हेतु है और उसका समय परिवर्तित हुआ है।

राजेन्द्रसिंह बोबासर

शिविर कार्यालय प्रमुख (श्री क्षत्रिय युवक संघ)

पृष्ठ 23 का शेष गुजरात में सोलंकी....

दिया। ब्राह्मणों को भूमिदान देकर उन्हें समृद्ध किया। इसके अलावा वाव और कुएँ खूब बनाकर लोकोपयोगी अनेक कार्य किए।

भीमदेव ने अपनी कम आयु में सत्ता प्राप्त की फिर भी उसने परिस्थितियों का ठीक-ठीक सामना किया। शुरुआत में उसे कई मुश्किलें सहनी पड़ी फिर भी लवणप्रसाद वाघेला और आबू के धारावर्षदेव परमार जैसे सामंतों की सहायता से उसने अपनी सत्ता कायम रखी। उसने 'अभिनव सिद्धराज, सप्तम चक्रवर्ती, बालनारायण' जैसे बिरद धारण किए। भीमदेव के उत्तरकाल में सत्ता के सूत्र उसके वफादार मंडलेश्वर लवणप्रसाद और उसके पुत्र

वीर धवल द्वारा धारण किए होते हुए भी राजा के रूप में भीमदेव ने महत्व का स्थान बनाए रखा। भीमदेव के दो राणियाँ थीं-लीलादेवी और सूमलदेवी। लीलादेवी जालोर के राजा कीर्तिपाल के पुत्र समरसिंह की पुत्री थीं। भीमदेव ने लीलादेवी के नाम पर लीलापुर गाँव बसाया। अपनी पत्नियों के श्रेयार्थ लीलेश्वर और सूमलेश्वर शिव मंदिर बनवाये और उनको गाँव भी दान दिए।

भीमदेव 'भोला भीमदेव' कहलाता था अपने पूर्वजों जिनमा शक्तिशाली नहीं था, फिर भी सोलंकी राजाओं में सबसे अधिक समय 63 वर्ष तक राज करके वि.सं. 1298, तदनुसार ई.सं. 1242 में मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसके बाद त्रिभुवनपाल सोलंकी पाटण की गढ़ी पर बैठा। **(क्रमशः)**

पृष्ठ 29 का शेष संयोग, वियोग और...

लिया, इसलिये धक्का लगता है। अतः पहले से ही यह स्वीकार कर लें कि इन सबका वियोग होने वाला है। कोई मर गया, कोई चला गया तो नयी बात क्या हुई! ये सब तो जाने वाले ही हैं। सूर्य अस्त होने पर व्यवहार में बाधा लग जाती है; परन्तु 'उदय हुआ है तो अस्त होगा ही'-यह भाव होने से दुःख नहीं होता। इसी तरह जो जन्मा है, वह मरेगा ही; जो आया है, वह जाएगा ही-यह भाव होगा तो फिर किसी की मृत्यु पर अथवा जाने पर दुःख नहीं होगा। जैसे बालकपना चला गया तो अब उसको ला नहीं सकते, ऐसे ही जितनी चीजों का वियोग हो गया, उनमें से किसी भी चीज को ला नहीं सकते और अभी जो चीजें हैं, वे भी जा रही हैं, उनको

रख नहीं सकते। पहले वाली चली गयी, अभी वाली जा रही है तो भविष्य में आने वाली कौन-सी टिकेगी? जाने वाले को महत्ता क्या दें? क्या जाने वाली, मिटने वाली चीज की भी कोई महत्ता होती है? उसको महत्ता न दें तो नित्ययोग का अनुभव हो जाएगा।

संसार पहले भी हमारे साथ नहीं था, पीछे भी हमारे साथ नहीं रहेगा और अभी भी हमारे साथ नहीं है, इसलिये उससे नित्यवियोग है। परमात्मा पहले भी हमारे साथ थे, पीछे भी हमारे साथ रहेंगे और अभी भी हमारे साथ हैं, इसलिये उनसे नित्ययोग है। इस नित्यवियोग अथवा नित्ययोग का कोई चिंतन नहीं करना है। यह तो है ही ऐसा। केवल इसका अनुभव करना है। यही सहजावस्था है।

- संकलित